वर्ष 1 ▪ अंक 2 ▪ चैत्र-वैशाख-ज्येष्ठ, 5121 कलि. ▪ अप्रैल-मई-जून, 2019

₹100/-

सभ्यता-संवाद

भारतीय इतिहास-दृष्टि

इतिहास-दर्शन
डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल
इतिहास-दृष्टि : एक वैज्ञानिक विवेचन
डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय
इतिहासलेखन का औपनिवेशिक आख्यान
दिलीप केळकर
इतिहास-दृष्टि और विभिन्न संकल्पनाएँ
रवि शंकर
इतिहास का इतिहास-दर्शन
डॉ. विवेक भटनागर
जातीय सद्भाव : भूत, वर्तमान और भविष्य
मधुकर रायचौधरी
आचार्य देवेन्द्र स्वरूप : एक युगद्रष्टा की इतिहास-दृष्टि
डॉ. आनन्द बर्धन
आर्य, वैदिक सभ्यता और इतिहास
ममता रानी
भारत से ही अपरिचित हैं, भारतीय इतिहास के लेखक
रवि शंकर

सभ्यता अध्ययन केंद्र
वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः

• सभ्यता अध्ययन केन्द्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका •

श्रद्धाञ्जलि

पद्मश्री डॉ. देवेन्द्र स्वरूप

30 मार्च, 1926–14 जनवरी, 2019

वयं राष्ट्रे जागृयाम् पुरोहिताः

सभ्यता-संवाद

सभ्यता अध्ययन केन्द्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष 1] चैत्र-वैशाख-ज्येष्ठ, 5121 कलि. : अप्रैल-मई-जून, 2019 [अंक 2

सम्पादक

रवि शंकर

•

कार्यकारी सम्पादक

गुंजन अग्रवाल

सभ्यता अध्ययन केन्द्र

नयी दिल्ली

सभ्यता-संवाद

वर्ष 1, अंक 2, चैत्र-वैशाख-ज्येष्ठ, 5121 कलि.
अप्रैल-मई-जून, 2019

मार्गदर्शक-मण्डल

डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय **श्री सुबोध कुमार**

प्रो. राजकुमार भाटिया **डॉ. आनन्द बर्धन**

•

सम्पादकीय सलाहकार

ऋतेश पाठक **डॉ. विवेक भटनागर**

•

सम्पादक

रवि शंकर

•

कार्यकारी सम्पादक

गुंजन अग्रवाल

•

सह सम्पादक

भानु कुमार **ममता रानी**

स्वाती शाकम्भरी

•

प्रबन्ध सम्पादक

जगत मोहन **श्यामसुन्दर तिवारी**

•

सम्पादकीय कार्यालय

सभ्यता अध्ययन केन्द्र

बी 14, गली-नं. 13, वजीराबाद गाँव, दिल्ली-110084

दूरभाष : 9899588033, 9654669293; ई-मेल : sabhyatasamvad@gmail.com

फेसबुक : facebook.com/civilisationalstudies

'सभ्यता-संवाद' में प्रकाशित निबन्धों में प्रतिपादित विचारों और तथ्यों का उत्तरदायित्व निबन्ध-लेखकों का है और उनसे सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली/नयी दिल्ली-स्थित सक्षम अदालतों और मंचों के क्षेत्राधिकार के अधीन है।

प्रकाशक सभ्यता अध्ययन केन्द्र के लिए स्वामी रवि शंकर द्वारा बी-14, गली-नं. 13, वजीराबाद गाँव, दिल्ली-110084 से प्रकाशित एवं बेन्चमार्क सॉल्यूशन, 142-1, वीर नगर, जैन कॉलोनी, दिल्ली-110 007 से मुद्रित।

इस अंक में...

सम्पादकीय (iv)

पुनर्पाठ :

- **इतिहास-दर्शन** 1
  डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल

विमर्श :

- **इतिहास-दृष्टि : एक वैज्ञानिक विवेचन** 20
  डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय
- **इतिहासलेखन का औपनिवेशिक आख्यान** 33
  दिलीप केळकर
- **इतिहास-दृष्टि और विभिन्न संकल्पनाएँ** 43
  रवि शंकर
- **इतिहास का इतिहास-दर्शन** 56
  डॉ. विवेक भटनागर
- **जातीय सद्भाव : भूत, वर्तमान और भविष्य** 68
  मधुकर रायचौधरी

व्यक्तित्व

- **आचार्य देवेन्द्र स्वरूप : एक युगद्रष्टा की इतिहास-दृष्टि** 75
  डॉ. आनन्द बर्धन

पुस्तक-समीक्षा :

- **आर्य, वैदिक सभ्यता और इतिहास** 79
  ममता रानी

एन.सी.ई.आर.टी.-समीक्षा :

- **भारत से ही अपरिचित हैं, भारतीय इतिहास के लेखक** 82
  रवि शंकर

समाचार :

- **राजनीतिक षड्यंत्र है जातीय विद्वेष** 90
  सभ्यता अध्ययन केन्द्र प्रतिनिधि

'सभ्यता-संवाद' एक शोध-पत्रिका है। इसमें केवल उच्च कोटि के गवेषणात्मक, आलोचनात्मक तथा समीक्षात्मक शोध-निबन्धों का प्रकाशन होगा। इसके अतिरिक्त 'सभ्यता-संवाद' में, प्रकाशित निबन्धों पर पाठकीय प्रतिक्रियाएँ भी प्रकाशित की जायेंगी। निबन्धों के सम्पादन में काट-छाँट, स्वीकृति अथवा अस्वीकृति आदि का अधिकार सम्पादक के अधीन सुरक्षित रहेगा। **—सम्पादक**

सम्पादकीय

भविष्य गढ़ती है भारतीय इतिहासलेखन की दृष्टि

यह बात सुनने में थोड़ी अज़ीब लग सकती है कि इतिहास हमें अतीत के बारे में बताता है, परंतु इसे जानने का प्रयास करनेवालों का वर्तमान यह तय करता है कि वह इतिहास कैसा होगा। उदाहरण के लिए आज से तीन सौ वर्ष पहले दुनिया के लोग अपना-अपना जो इतिहास पढ़ रहे थे, आज उससे एकदम उलटा इतिहास पढ़ रहे हैं। ऐसा हुआ है, उनके वर्तमान के कारण। तो क्या हम कह सकते हैं कि हमारा वर्तमान हमारे इतिहास को प्रभावित करता है? यह थोड़ी उलटी बात है, परंतु विचारणीय तो है ही।

वास्तव में इतिहास का पदच्छेद भले ही इति+ह+आस यानी कि ऐसा हुआ था, होता हो, परंतु सच तो यह है कि इतिहास की किसी भी घटना का पूरा सच आप नहीं जान सकते। आपको बहुत हद तक लिखित वर्णनों और अपनी कल्पनाओं पर ही निर्भर होना होता है। लिखित वर्णन किस तरह बदलते हैं, यह आज छिपा हुआ नहीं है। एक ही घटना का लिखित वर्णन कई प्रकार का मिल जाएगा। विचार करने की बात यह भी है कि अभी केवल 40-50 वर्ष पुरानी घटनाओं के बारे में भी हमें निश्चित रूप से पता नहीं होता, लेकिन हम 0-50 सौ अथवा हज़ार वर्ष पुरानी घटनाओं के बारे में एकदम निश्चित जानकारी चाहते हैं। इसे एक विरोधाभास ही कहा जा सकता है। मानवीय ज्ञान की सीमा के कारण हमेशा हमें तथ्यों के कई समूह प्राप्त होते हैं, यह हम पर निर्भर करता है कि हम किस समूह को चुनकर अपना इतिहास लिखना चाहते हैं। यह देखना कठिन नहीं है। यदि हम आज से केवल 70 वर्ष पहले हुए देश की स्वाधीनताप्राप्ति और विभाजन के इतिहास को जानना चाहें, तो हमारे पास इसके कई प्रकार के वृत्तांत उपलब्ध होते हैं। हरेक वृत्तांत स्वयं को एकदम सच्चा और दूसरे को एकदम झूठा बताते हैं। विदेशी वर्णनों से लेकर देशी वर्णनों तक में कहीं कोई समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। समानता केवल कुछेक बातों में ही मिलती है। जैसे, सभी यह स्वीकार करते हैं कि देश का विभाजन हुआ, विभाजन मजहबी आधारों पर हुआ। यह सत्य एक भौतिक सत्य होने के कारण सभी स्वीकार लेते हैं। परंतु जैसे ही इसके अतिरिक्त बात होती है, उस पर विवाद हो जाता है। क्या अंग्रेज़ गाँधी-नेहरू के कारण देश छोड़ गए, क्या अंग्रेज़ सुभाष चंद्र बोस और नौसेना विद्रोह के कारण देश छोड़ गए, क्या अंग्रेज़ विश्वयुद्ध में कमज़ोर होने के कारण देश छोड़ गए, हमें स्वाधीनता मिली या 'ट्रांसफर ऑफ़ पॉवर' हुआ, हम स्वाधीन राष्ट्र बने या कॉमनवेल्थ का हिस्सा भर बनकर रह गए, ऐसे अनेक प्रश्न और विवादित मुद्दे हैं, जो कि आज से केवल 70 वर्ष पहले के इतिहास के बारे में प्रचलित हैं। हरेक के

पास दमदार साक्ष्य और लिखित प्रमाण उपलब्ध हैं। प्रत्येक पर ढेरों पुस्तकें उपलब्ध हैं– प्रत्यक्षदर्शियों से लेकर परोक्षदर्शियों तक की लिखी हुई।

तो प्रश्न उठता है कि क्या इतिहास को यथावत् नहीं जाना जा सकता? उत्तर है कि बिल्कुल भी नहीं जाना जा सकता। वास्तव में हम तो यह तक नहीं बता सकते, अभी हम कैसे दिखते हैं। हम जो स्वयं को आइने में देख रहे होते हैं, वह भी सेकेंड के एक हिस्से जितनी पुरानी घटना होती है, परंतु हमें उसका अहसास नहीं होता। ऐसे में प्रश्न उठता है कि फिर इतिहास को लिखने का प्रयास करने का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर ही हमें इतिहास के दर्शन की ओर ले जाता है। इतिहास हम कैसा लिखेंगे, यह बात इस पर निर्भर करती है कि हम इतिहास जानना क्यों चाहते हैं। उदाहरण के लिए विचार करें कि 18वीं-19वीं शताब्दी में यूरोपीय भारत का इतिहास क्यों जानना चाहते थे? उन्हें तो तब अपने इतिहास का भी कुछ पता नहीं था।

वास्तव में यूरोपीय इतिहास को जानना कम और बताना अधिक चाहते थे। वे दुनिया को बाइबिल के दायरे में लाने के लिए निकले थे। परंतु दुनिया ने उन्हें बाइबिल से बाहर निकाल दिया। परन्तु आज भी उनका प्रयास दुनिया को बाइबिल की सीमा में लाना ही है। प्रत्यक्षतः उनके शास्त्र बाइबिल के विरोध में होते हैं, परन्तु परोक्षतः वे बाइबिल के सिद्धांतों के अनुसार ही काम करते हैं। इसलिए उनका इतिहासलेखन दूसरों को हीनता से भरता है, दुनिया को पिछड़ा और अविकसित घोषित करता है। मनुष्य को बंदर से पैदा बताता है और उसका केन्द्र अफ्रीका को बताता है। अफ्रीका इसलिए, क्योंकि वही उनके सर्वाधिक निकट रहा है और उससे ही उन्हें सबसे अधिक वास्ता पड़ता रहा है।

भारत में इतिहासलेखन का उद्देश्य भूत को जानने से अधिक मनुष्य समाज को सही प्रेरणा देना रहा है। धर्म की विजय होती है और इसलिए हम धर्म के मार्ग पर चलें, यह स्थापित करने के लिए हम इतिहास लिखते रहे हैं। धर्म की व्याख्या करने, धर्म का पालन करनेवाले अपने पूर्वजों के जीवनचरित को जानने, राजनीति, समाजविज्ञान, पारिवारिक परम्पराओं को समझने-समझाने के लिए हम इतिहास लिखते रहे हैं। हम इतिहास लिखते रहे हैं, आत्मा को जानने के लिए। हम इतिहास लिखते रहे हैं ब्रह्माण्ड के रहस्यों को समझने के लिए, परमात्मतत्त्व से साक्षात्कार करने के लिए। इसलिए हमारा इतिहासलेखन शुष्क तारीख़ें भर नहीं है। उसमें कथाएँ हैं, उसमें पारिवारिक आत्मीयता है, उसमें राजनीति की शिक्षा है, उसमें आत्मा और ईश्वर का उपदेश है, उसमें सृष्टिरचना का विज्ञान है, उसमें मनुष्य बनने के मार्गों का निर्देश है। इस प्रकार हमारा इतिहासलेखन भूत को जानने से अधिक भविष्य को गढ़ने का साधन है।

(रवि शंकर)

वयं राष्ट्रे जागृयाम् पुरोहिताः

सभ्यता-संवाद

सभ्यता अध्ययन केन्द्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका

वर्ष 1] चैत्र-वैशाख-ज्येष्ठ, 5121 कलि. : अप्रैल-मई-जून, 2019 [अंक 2

पुनर्पाठ

इतिहास-दर्शन*

डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल**

इतिहास अधुनातन पाश्चात्य जगत् में विकसित हुई अध्ययन-सामग्री है। भारतवर्ष और यूनान की आत्मा इतिहास की कल्पना से अतीत है। इतिहास उन लोगों के लिए है जो भूतकाल को व्यतीत समय का पिंड या धनांश मानकर उसके मूल्य की जांच एक हज़ार, पाँच हज़ार, दस हज़ार या दस लाख वर्षों के बराबर कर सकते हैं। इस प्रकार कलित काल की, जो 'एकरस' नहीं रह जाता, व्यच्छेद-क्रिया की जाती है। भूत अवयवी या अंगी है। शताब्दी, दशाब्दी, या एक-एक संवत्सर क्रम से सटे हुए उस अंगी के अंग हैं। ऐतिहासिक (इतिहासकार) इन समय-परिच्छेदों को ले कर उनमें तिथि और संवत् के पूर्वापर सम्बन्ध से

* 'माधुरी', श्रावण, तुलसी संवत् 306 में प्रकाशित; 'इतिहास दर्शन' शीर्षक निबन्ध संग्रह में संगृहीत

** प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं कला के महान् अध्येता, लेखक, टीकाकार, इतिहासकार, कलामर्मज्ञ, पुरातत्त्ववेत्ता, मुद्राशास्त्री, दार्शनिक, लिपिशास्त्री, शब्दशास्त्री, भाषाशास्त्री और अन्वेषक डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल (1904-1966)

विविध घटनावली को अपने-अपने स्थान में जमाता है। इस प्रकार भूत के कलेवर को घटना-सज्जित करने में इतिहास-लेखक अपार परिश्रम करता है। अपने कौशल से वह अमूर्त भूत को घटनाओं के इंगित और लक्षणों से मूर्त देखना चाहता है। उसके लिए काल एकरस नहीं है। उसमें सदियों और वर्षों की छाप और नाप-जोख के निशान लगे हुए हैं। वर्तमान की ओर से उसकी उपेक्षा है। वर्तमान उसके काम का तभी हो सकता है, जब वह भूत में बदल जाय, चाहे इस भूतत्व-उपाधि का मूल्य कुछ ही क्षण क्यों न हो। अर्थात्, उसके मस्तिष्क में जो भूत है तथा जो वर्तमान है, उस दोनों में कुछ क्षण का अंतर या व्यवधान होना ही काफ़ी है। जब तक भूत के इस प्रकार हिसाब रखने का भाव किसी जाति या सभ्यता में नहीं उत्पन्न होता, तब तक इतिहास की कल्पना असम्भव है। जब प्राचीन और अर्वाचीन का भेद समय की कल्पना में संक्रांत हो जाता है, तभी इस प्रकार के सर्वातिशायी भूत का जन्म होता है। पश्चिमी सभ्यता का अंग ही इस प्रकार की विचारधारा है।

अब उन लोगों को लीजिए, जिनके यहाँ काल अनादि है, संख्यातीत है, एकरस है। उसमें किसी को भूत और किसी को वर्तमान कहना एकरसता के विरुद्ध है। यदि वस्तुतः अतीत को अनागत से अलग निकालकर किसी अंश की कल्पना की जाय, तो फिर सब कुछ भूत ही हो जाता है। प्रत्येक क्षण, जब कि मनुष्य बोल रहा है, भूत में परिवर्तित ही नहीं हो रहा, भूत ही है। हर एक क्षण कोटि कल्प के बराबर है, अर्थात् अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्मता के साथ महतोमहीयान् भी है। जिसको एक क्षण कहते हैं, यदि उसी पर विचार करने लगें, तो उसकी गुरुता प्रतीत होती है। उसकी कुक्षि में अक्षय काल भरा हुआ है, अर्थात् हम उसके टुकड़े करने लगें, तो कहीं अंत न होगा। उस निमेष के पिंड में समस्त काल का ब्रह्माण्ड है। परमाणु और विराट् प्रकृति– दोनों ही अनन्त हैं।

अनादिविधनत्वेन स महान् परमेश्वरः।
निमेषादपि सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मतरो ह्यति॥
तस्य सूक्ष्मातिसूक्ष्मस्य तथापि महतो द्विजः।
मानसंख्या बुधैर्ज्ञेया ग्रहगत्यनुसारतः॥
अनाविरेष भगवान्कालोऽनन्तोऽजरोऽमरः।
सर्वगत्वात् स्वतंत्रत्वात् सर्वात्मत्वान्महेश्वरः॥

अर्थात् काल अनादि, अनन्त, अजर और अमर है। वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से भी महान् है। उस एक काल में उपाधियाँ ग्रहों की गति से मान ली जाती हैं। निमेष, घड़ी, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर– ये नाना भेद सब अतात्त्विक हैं। निमेष जैसी कोई वस्तु नहीं है, इस ग्रह की उपाधि से भूलोक में जो अहोरात्रावधिक काल है, एकरस काल की दृष्टि में उसकी कोई परिच्छिन्न कल्पना नहीं। सोम, मंगल, आदि लोक-लोकों में किसी और मान को अहोरात्र कहते होंगे। जो काल सर्वस्वतंत्र है, उसमें भूत-वर्तमान का बन्धन कहाँ? जो व्यापक है, उसमें उपाधि-भेद से वास्तविक भेद कहाँ आ सकता है? जो और सबको परिच्छिन्न करनेवाला है, वह स्वयं परिच्छिन्न कैसे हो सकता है? अजर-अमर का भाव ही यह है कि उसमें भूत-जैसी दुःखमयी कल्पना नहीं

है। वस्तुतः भारतवर्ष की समय की कल्पना ऐसी ही है। काल के इस स्वरूप में और आत्मा के स्वरूप में कुछ भेद नहीं है। जो परमेश्वर स्वतंत्र, सर्वव्यापक, अनादि, अनन्त है, उसी का दूसरा नाम काल हुआ **(कालः कलयतामहम्)**। इस प्रकार काल-जैसी कोई पृथक् वस्तु नहीं रह जाती।

प्रत्येक संस्कृति की जो मूल विचारधारा है, उससे ही उसके कालगत और देशगत विचारों का अवतार होता है। हर एक संस्कृति की अपनी विशिष्ट आत्मा हुआ करती है। उस आत्मा को जान लेने से उस संस्कृति की समस्त बाह्य विचार-परम्परा और लक्षण-कोटियों का रहस्य ज्ञात हो जाता है। भारतवर्ष की संस्कृति के मूल में आत्मा है। आत्मज्ञान सब बाह्य कर्म और उपलक्षणों की नाभि में प्रतिष्ठित है। जो स्वरूप आत्मा का निर्धारित हो सका, वही काल के विषय में भी चरितार्थ होता है। वस्तुतः वे दोनों एक ही रह जाते हैं। आज तक भारतवर्ष में यह कहना सम्भव नहीं हुआ कि हमारा भूतकाल पाँच हजार या छह हज़ार बरसों के बराबर है। पश्चिम की भावना ठीक इसके विपरीत है। उन्हें भूतकाल को ठीक-ठीक नापे बिना संतोष नहीं होता। जो भौतिक जगत् के नाना पदार्थ हम देखते हैं या जिसके विषय में सुना है, वे कब से हैं तथा वे कब हुए? आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति बिना इसका निर्णय किए हुए पग-भर भी नहीं चल सकती ।हम कहते है कि वेदव्यास या कालिदास हुए, पश्चिम का पहला प्रश्न यही है– कब हुए?[1] इसी प्रश्न का उत्तर देने में आजकल विद्वत्ता का प्रथम प्रयास होता है। जिन्होंने शिक्षा में पश्चिमी आदर्शों को अपनाया है, उन भारतवासियों को भी कालिदास को दुनिया के सामने रखते हुए पहला ज़वाब यही देना पड़ता है कि कालिदास कब हुए। दूसरी बात यह है कि वे जिस समय हुए, उस भूतकाल का तिथिक्रम में ठीक-ठीक नामकरण करने के बाद उस शताब्दी या दशाब्दी को पुनः जीवित करो, अर्थात् उस समय का जीता-जागता खाका फिर खींच दो। इस प्रकार उस अतीत का सर्वांगतया पूर्ण नक्शा तैयार करने में वर्तमान इतिहास-संशोधकों का अधिकांश परिश्रम चला जाता है। जब वह नक्शा तैयार हो जाय, तब उसमें एक बिंदु रखकर कालिदास, व्यास या याज्ञवल्क्य को खड़ा करो। यही विचारशैली सब अर्वाचीन विद्वत्ता के मूल में काम कर रही है। इसके प्रत्यक्ष दर्शन नवीन ढंग से सम्पादित हुए प्राचीन ग्रंथों की भूमिका में होते हैं। इस सम्पादन-कला के समक्ष एक प्रश्न सतत विराजमान रहता है और वह है– कब? यह गत भूत की ओर संकेत करता है। इसका उत्तर देनेवाला अपने आपको वर्तमान से उठाकर भूत में ले जाता है। इसके विपरीत देश की जो परम्परागत विद्वत्ता है, उसके लिये भूतकाल है ही नहीं। प्राचीन विद्वानों के लिये तिथिक्रम (chronology) अथवा कालत पौर्वापर्य सहास्तिता अथवा यौगपद्य (contemporariness) का भाव है ही नहीं। 'कब?' का उत्तर देने का उनमें संकल्प उदय ही नहीं होता। इसका कारण वही है, अर्थात् भारत की आत्मा ने एकरस काल से भूत और वर्तमान में भेद को निकाल दिया है। यहाँ सब कुछ वर्तमान है। जिस क्षण में हम रह रहे हैं, वही समस्त कोटिकल्प की मूर्ति है। अहम् जैसे ब्रह्म है, एक क्षण वैसे ही काल है। आत्मज्ञान की आनन्दमयी अवस्था में अतीत काल का दुःख है ही नहीं। अतीत का स्मरण दुःखांत है। दुःख का अभाव आनन्द है। उस परम चैतन्य की आनंदरूप जाग्रति में अमरपन का भाव ओतप्रोत रहता है। उसमें यह बीत गया, यह मृत हो गया, इसे काल खा गया आदि दुःखानुबंधी भावों की त्रिकाल में भी

गुंजायश नहीं है। आत्मानुभव की अवस्था में ऐसा प्रत्यक्ष भासने लगता है। इस प्रकार जहाँ अमृत-तत्त्व प्रधान हो, वहाँ काल भी अजर-अमर बन जाता है। ऐसे काल में भूत की संगति नहीं है। फिर इस देश में वैज्ञानिक इति+ह+आस की उत्पत्ति कैसे हो सकती थी? इतिहास के लिये तिथिक्रम की सत्ता अनिवार्य है। जब हम तिथिक्रम में 1985 कहते हैं और जब गणित में 1985 कहते हैं, इन दोनों में महान् भेद है। पहले 1985 का अंक-गत मूल्य कुछ भी नहीं है, वह केवल एक संकेत-मात्र है। काल के विशाल पट पर किसी बिंदु का संकेतक (pointer) पहला 1985 है। इसमें पौर्वापर्य का भाव है। अर्थात् 1985 से पहले 1984 आदि और बाद को 1986 आदि। परन्तु गणित के 1985 में अंकों का समुदाय-गत मूल्य है।

अब देखना चाहिए कि भारतवर्ष में अंकों का कौन-सा भाव उदय हुआ था? अंक-गत या तिथिक्रम-गत? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर यही है कि हम लोग केवल गणित-सम्बन्धी अंकों से ही परिचित थे। जो आत्मा की अमरता के भावों का दिन-रात चिन्तन करते हों, उनमें तिथिक्रम-गत सांकेतिक अंकों की आवश्यकता ही क्या हो सकती थी? इसी का उदाहरण हमारी कालगणना में पाया जाता है जो इस प्रकार है यह सृष्टि चार अरब बत्तीस करोड़ बरस (4,32,00,00,000) की है। इसे एक कल्प कहते हैं। इसमें एक सहस्त्र चतुर्युगी और चौदह मन्वन्तर होते हैं। एक चतुर्युगी (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि) में 43,20,000 (43 लाख 20 हज़ार) वर्ष होते हैं। एक कलियुग बराबर 4,32,000 वर्ष के है। ऋग्वेद की अक्षर-संख्या भी 4,32,000 है। **यथा स ऋचो व्यौहत्। द्वादश बृहतीसहस्त्राणि एतात्त्क्यो हर्च्चो याः प्रजापतिसृष्टाः**। (शतपथब्राह्मण 10.4.2.23) अर्थात् ऋक्पदों को संचित करके प्रजापति ने व्यूह बनाया। उसमें बारह बृहती सहस्त्र अक्षर लगे। बृहती छंद = 36 अक्षर। इसलिये 36 × 12 × 1000 = 4,32,000 ऋक्-अक्षर।

कृतयुग = 4 कलि, त्रेता = 3 कलि, द्वापर = 2 कलि। इस प्रकार 10 कलियुग की एक चतुर्युगी हुई। इसी को सहस्त्र-गुणित (सहस्त्रशीर्षा - पुरुषसूक्त) करने से एक कल्प बनता है। यही सृष्टि है। इसके अनन्तर प्रलय भी एक कल्प के बराबर ही होता है।

इस प्रकार के समय परिगणन में तिथिक्रम के लिये कहीं स्थान नहीं है। भारतवर्ष में यह कभी नहीं हुआ कि प्रत्येक मन्वन्तर की चतुर्युगी को अलग करके उसके संवत्सरों में घटनाओं के पौर्वापर्य का संबंध लगाया गया हो।

एक कल्प (4,32,00,00,000) या मन्वन्तर या चतुर्युगी– ये केवल अंकों के गणित-समुदाय हैं। 4,32,00,00,000 के पहले जोड़ या बाकी (+ या -) का निशान एकरस काल का विचार रखते हुए हम नहीं लगा सकते। इतने अंकों से अनन्त काल के सामने इधर या उधर (जोड़ या बाकी) कुछ व्यक्त नहीं होता। इनमें आगे-पीछे का भाव ही नहीं है। जहाँ काल लोमश ऋषि[2] है, उसके एक-एक रोम में एक-एक प्रजापति ब्रह्मा की आयु बसी हुई है, वहाँ एक कल्प के संवत्सरों में पूर्वापर तिथिक्रम की कल्पना करना नितांत असम्भव है। इसलिये इतिहास के लिये जो मौलिक प्रश्न है 'कब?', उसका उत्तर देने का विचार भारतवर्ष में कहीं नहीं पाया जाता।

प्रगति दो प्रकार की होती है– पिपीलिका-मार्ग से और शुक-मार्ग से। अर्थात्, जैसे पिपीलिका शनैः शनैः क्रममाण होती है, वैसे संवत्सरों के अनन्त जाल में एक-एक सन् को स्पर्श करते हुए चलना पिपीलिका-गति है। इसमें तिथि-क्रम की गुंजायश है। परन्तु शुक-मार्ग से चलनेवाले सद्योमोक्ष प्राप्त करते हैं। आत्मा के लिये पिपीलिका-मार्ग आवश्यक नहीं है। जहाँ मार्ग की इयत्ता हो, वहीं पिपीलिका-न्याय चरितार्थ होता है। अधुनातन पाश्चात्य संस्कृति की प्रगति पिपीलिका-न्याय से है। उनका मार्ग व्यक्त दीख पड़ता है। परन्तु आध्यात्मिक विचार करनेवालों ने शुक-मार्ग का अवलम्बन किया है। मोक्ष के लिये, जो कि परम कोटि की पूर्णता है, क्षणभर बहुत है। शुक-मार्ग अव्यक्त होता है। ज्ञान कहाँ से आता है, किधर को उसका प्रवेश-द्वार है, यह निश्चित नहीं। शुक-उड़ान की भाँति उसका पथ नहीं दिख पड़ता। वह हो जाता है, यही एक तत्त्व है। पिपीलिका-गति पदे-पदे निश्चेतु शक्य है। पिपीलिका-मार्ग का भाव हुए बिना इतिहास असम्भव है। बिना उसके तिथिक्रम (Chronology) बन ही नहीं सकता।

इसलिये भारतवर्ष के साहित्य में इतिहास नहीं है। यह सारा देश ही इतिहास के लिये नहीं बना। तात्पर्य यह कि सारे राष्ट्र की ही आत्मा में ऐसी उर्वरा भूमि का अभाव है जहाँ इतिहास का बीज पनप सके। यहाँ वर्तमान की महिमा सर्वोपरि है। जो अब हो रहा है, वही सब कुछ है। आत्मा के साथ उसी का तादात्म्य है। जो बीत गया, उससे हमारा कुछ सम्बन्ध नहीं, अर्थात् अतीत ने हमारी आत्मा में कोई उपाधि नहीं छोड़ी। जब तक घटनावली अतीत से उपहित न हो, तब तक इतिहास कैसे लिखा जा सकता है? यहाँ 'अस्ति' सच्ची है, 'आस' कुछ नहीं। जो हो चुका, वह कल्प-कल्प में फिर-फिर सब वैसे ही होगा। वह एक ध्रुव सत्य है, जो फिर-फिर सम्भव है। सर्ग और विसर्गों का फेर चक्रवत् चल रहा है। मानवी दृष्टि से समय को देखने का अधिकार ही नहीं है। मनुष्य-शरीर एक भूतभावन वस्तु है, वह स्थल और काल से परिच्छिन्न है। उसी की अपेक्षा से भूत-वर्तमान का विवेक किया जाता है। परन्तु जहाँ आत्मा की दृष्टि से सब कुछ देखा जाय, वहाँ अजर-अमर ही सब कुछ है। ऐसा नहीं हुआ, जब मैं' नहीं था, ऐसा भी नहीं होगा जब 'मैं' न हूँगा, फिर भूत का साक्षी कौन बने, जिसे शरीर की अपेक्षा से हम भूत कहते हैं, उसका द्रष्टा भी 'मैं' था, तब 'मैं' के लिये तो वह वर्तमान ही है; क्योंकि 'मैं' वही है उसी तरह एकरस है है, 'मैं' दूसरा नहीं हो गया, उसमें कोई परिवर्तन नहीं आया। शरीर विनश्यत् है, सभ्यता और संस्कृति सब विनश्यत् है, इनकी ओर देखने से क्या लाभ है, अविनाशी इन सबसे परे है, उसमें कालत परिच्छेद या चिप्पी नहीं लग सकती। उसको जो देखता है, वही सच्चा द्रष्टा है।[3] अविनाशी को चार या पाँच हज़ार वर्ष पुराना कह सकना सम्भव है।

यहाँ हम किसी चीज को पुरातन नहीं कहते, सब कुछ सनातन है। सनत् अव्यय में इतिहास या भूत की गंध भी नहीं है। हमारा काल भी पुरातन नहीं, सनातन है। जहाँ-जहाँ गणना या कलना का भाव है, वहाँ काल है। यह काल 'अहं' ही है। **कालः कलयतामहम्** (गीता)– इसलिये कल्प के अब्दों की गणना दिव्य वर्ष, सहस्र वर्ष या ब्राह्म दिन कही जाती है–

दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥

–मनुस्मृति, 1.72

ब्रह्मणो रुद्रा ह्यन्ये नारायणादयः।
एको हि भगवानीशः कालः कविरिति स्मृतः॥

काल की महिमा हिंदू-संस्कृति में गीता के एकादश अध्याय में सर्वोपरि देखने को मिलती है। वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव, मरुत, साध्य, ऋषिसंघ, सुरसंघ, आदि सब अपने निधनस्थान की ओर अप्रतिवार्य वेग से बढ़ते चले जा रहे हैं– इतना सजीव यह वर्णन है। अन्त में भगवान् के साथ काल का तादात्म्य दिखाकर कहा गया है–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः॥

–गीता 11.32

अर्थात् यह काल वही है, जो सब लोगों का सृजन भी करता है–

कालः सृजति भूतानि कालः संहरति प्रजाः।

अर्थात् सृष्टि ही जिसकी कल्पना के बिना असम्भव है, वह काल है। यह ब्रह्म ही है, जिसकी शक्ति त्रेधा विभक्त हो कर (भूत, वर्तमान, भविष्य– ब्रह्मा विष्णु, रुद्र) सब लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करती है। यह स्पष्ट है कि इस देश में समय का जो भाव था, वह इतिहास के लिए निरुपयोगी है। वह निरवयव होने से एकरस है। बिना अवयवी काल के भूत-युग सम्भव नहीं। बिना भूत की स्पष्ट निर्धारित कल्पना के इति+ह+आस में गर्भित कदा (कब) का उत्तर नहीं दिया जा सकता।

भारतवर्ष की उपर्युक्त ऐतिहासिक विस्मृति उसकी संस्कृति का एक अभिन्न अंग है। इसे हम इत्तिफाक कहकर नहीं टाल सकते। यहाँ भूत को स्मरण रखने का लोगों में स्वभाव ही नहीं था, वह हो ही नहीं सकता था। सत् और असत् से विलक्षण अमृत-तत्त्व की कल्पना के साथ केवल सत् काल का विचार असभव था। सत् और असत् से विलक्षण अमृत-तत्त्व की कल्पना के साथ केवल सत् काल का विचार असम्भव था।

भारतवर्ष की ही भाँति प्राचीन यूनान की संस्कृति में भी भूत के लिए स्थान नहीं था। उनके साहित्य, कला, नाटक, दर्शन– सबमें वर्तमान– प्रखर वर्तमान की ही चर्चा थी। इस भूत-विस्मृति या तीव्र वर्तमान की भावना ने गेटे को मुग्ध कर दिया था। आत्मज्ञान या आत्मदर्शन की या अन्तर्मुखी वृत्ति सदा वर्तमान में ही विचरण करती है। उसको **भवति** में आनन्द मिलता है, **आस** को देखने की उसकी अभिरुचि नहीं होती।

इसके विपरीत मिस्र देश में भूत की उपासना बड़ी प्रबल थी। वे लोग भूत में से कुछ नहीं भुला सकते थे। भूत की स्मृति रखना ही पर्याप्त न था, उसकी मूर्ति भी रखी जाती थी। भूत को सशरीर देखने की उनकी बड़ी उत्कण्ठा थी। उनके पिरामिडों में आज भी प्राचीन मिस्र-देश सजाया हुआ सुरक्षित है। रैमेसस् प्रथम या तूतेनखामेन के शरीर भी ममी बनाकर जैसे-के-तैसे रखे हुए हैं। उनकी पोशाक, बर्तन, सवारियाँ सब इस तरह रक्खी हुई हैं, मानो मिस्र-देश ने भूत को तिलभर भी आँख से ओझल नहीं होने दिया। तिथिक्रम भी वर्ष-वर्ष की गणना के हिसाब से लिखा हुआ है। आज से 6000 वर्ष पूर्व का मिस्र-देश जितना प्रत्यक्ष देखा जा सकता है, सौ वर्ष

पूर्व का भारत उसी तरह नहीं देखा जा सकता।

आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति में भी मृतकों को गाड़ना और उनके ऊपर पत्थर की मूर्ति या छत्र या समाधि बनवाना मिस्री भाव की ही नकल है। आजकल के बड़े-बड़े अज़ायबघर जो पेरिस, लंडन, बर्लिन या न्यूयॉर्क नगरों में हैं और हिन्दुस्तान के नये पेरिस, कलकत्ते में हैं, वे सब वर्तमान और विगत संस्कृति को ज्यों-का त्यों एक स्थान में संहत दिखा देते हैं। लोकक्षयत् काल पर विजय पाने की कैसी करुण चेष्टा इन संग्रहालयों के निर्माताओं ने की है!

भारतवर्ष का अंत्येष्टि-संस्कार जीवन की सुखांत समाप्ति है।[4] जो-जो आनन्द, उत्साह और अमरपन यहाँ की अंत्येष्टि-क्रिया में पाया जाता है, वह बिना अपवाद संसार की और किसी संस्कृति में नहीं मिलता। मृत्यु के नाटक में कहीं भीषणता छू तक नहीं गई है। उसे मृत्यु-भय से असंतुष्ट बनाने में यहाँ की संस्कृति ने पूरी-पूरी सफलता लाभ की है। उसमें भूत से वियुक्त होने का भाव नहीं है, अपने पीछे कोई चीज छोड़ने का भाव नहीं है। यहाँ की कोई चीज, जिसे यहीं रहना चाहिए, हमें छोड़कर नहीं जाती। बल्कि उस लोक की ही एक वस्तु नया जीवन पाने के लिए फिर उसी में मिल जाती है। जीर्ण देह से प्राणों का उत्क्रमण नया गर्भ-सम्भव प्राप्त करने के लिए है। इस स्वाभाविक परिवर्तन में न प्यारों का विप्रयोग है, न अप्रिय का संयोग। जो पुत्र, कलत्रादि पीछे रहते है, उन्हें भी शीघ्र ही यह देह-परिवर्तन करना होगा। भारतवर्ष का मरण-समय का आनन्दमय भाव सर्वोत्तम रीति से गीता के प्रसिद्ध श्लोक में कहा गया है–

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

–गीता, 2.22

ईशोपनिषद् में आत्मा को अमृत तथा शरीर को **भस्मांतं** कहा हैं। आयु की स्वाभाविक मर्यादा समाप्त होने पर जब प्राण निकलते हैं, तब वह अवसर संकट और शोक का नहीं, दुदुंभि और ढोल के साथ हर्ष मनाने का है। अत्यं-संस्कार स्वयं एक यज्ञ है, जिसमें विश्वोपकार के लिए मानवी देह हवि कल्पित करके भस्म कर दी जाती है। कहां गंगा के किनारे देह को भस्मांतं मानना और कहाँ नील के किनारे उसी पुतले की ममी बनाकर उसे अमरता प्रदान करना? कितनी भिन्न रीतियों से दो संस्कृतियों ने अपने-अपने काल-सम्बन्धी भाव को प्रकट किया है।

प्रत्नतत्त्व (Archaeology) और इतिहास-वृत्ति में घनिष्ठ सम्बन्ध है। भूत को संरक्षित करके उसका संकलन और मूर्तिमंत दर्शन प्रत्नतत्त्व का काम है। इस प्रकार का शास्त्र अधुनातन पाश्चात्य जगत् की उपज है। इस शास्त्र की अत्यधिक महिमा समयानुकूल ही है। प्राचीन भारतवासी प्रत्नतत्त्व-जैसी विद्या का नाम भी नहीं जानते थे। उसके वर्तमान भाव से आंक्रांत जीवन में भूत की इतनी महिमा की कल्पना नहीं हो सकती थी। यह भी कुछ संयोग की बात है कि प्रत्नतत्त्वशास्त्र का सुव्यवस्थित आरम्भ मिस्र-देश के प्रत्न-ज्ञान[5] (Egyptology) से ही हुआ, जहाँ इसके लिये सबसे अधिक मसाला था और जहाँ के वासी इस विद्या के प्रथम गुरु थे। हज़ारों वर्षों से खड़े हुए पिरामिड अपने अनन्त भण्डार की उदर में भरे हुए कह रहे थे कि कोई उनकी उस

थाती का उत्तराधिकारी बने। यूनान और फ़ारस वाले उस सन्देश का अर्थ समझने के लिये उपयुक्त न थे। मिस्र के समान ही भूत की उपासना करनेवालों ने अंततः इस सन्देश को ठीक-ठीक समझ पाया।

भारतवर्ष ने वर्तमान की महत्ता को श्रेष्ठ मानकर भूत को भुला दिया था। प्रश्न यह है कि क्या यहाँ इतिहास नहीं था? इसके विरुद्ध अनेक प्रमाण दिए जाएँगे। पहला यह है–

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपर्बृहयेत।

फिर, नारद ने सनत्कुमार से अपनी पढ़ी हुई विद्याएं गिनाते हुए कहा है–

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशि दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।

–छान्दोग्योपनिषद्, 7.1.2

चाणक्य ने पुराण, आख्यायिका, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र को भी इतिहास की परिभाषा में ही शामिल कर दिया है। पुराण और इतिहास में कोई पक्का भेद नहीं किया गया। ऊपर के दोनों अवतरणों में इतिहास के साथ ही पुराण को भी जोड़ा है, जैसे एक ही जुए में दो धौरेय साथ-साथ जोते जाते हैं।[6]

इतिहास[7] और पुराण से वेद का समुपबृंहण (बढ़त) करे– इस वाक्य का विशुद्ध भारतीय अर्थ यही हो सकता है कि वेद के अर्थ के व्याख्यान के लिये इतिहास और पुराण की रचना कर ली जाय।[8] वेद में से ही इतिहास ढूँढ़ निकालने का सिद्धान्त पश्चिम से लाया गया है। ऋग्वेद के समय के भारत तथा उसकी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक स्थिति को लेकर जो बृहत्काय ग्रंथ पिछले पचास वर्षों में लिखे गए हैं, उनके अगुआ पश्चिमी विद्वान् ही हैं। उन्हीं की शैली का अनुसरण कर अब कुछ एतद्देशीय विद्वान् भी इस प्रकार के इतिहास-निर्माण में भाग ले रहे हैं। एक ही समय में जन्म लेनेवाले मैक्समूलर और स्वामी दयानन्द कितनी अच्छी तरह पश्चिम की इतिहास प्रधान और भारत की इतिहास पराङ्मुख वृत्तियों को व्यक्त कर रहे हैं। एक ने वेद में इतिहास खोजने की श्रीगणेश किया। दूसरे ने अपनी अप्रतिहत सामर्थ्य से भारतवर्ष की प्राचीन आत्मा को एक बार फिर बड़े जोर से उद्घोषित किया। 'वेद अपौरुषेय हैं, उनमें एक अक्षर भी इतिहास नहीं है। उनका मनुष्यकृत होना भी भारतवर्ष का स्वीकृत नहीं है। सब कुछ अतिमानवी है। उसमें उस काल की जिसे इतिहास के तिथिक्रम से नापा जा सके, गंध भी नहीं है'– यही सिद्धान्त विशुद्ध भारतीय है। भूत का निराकरण करनेवालों ने वेद का कर्तृत्व ब्रह्मा या ब्रह्म को सौंप दिया है। ऋषियों का नाम जहाँ आता है, वह उनका कर्तृत्व बताने के लिये नहीं; क्योंकि मंत्रों की रचना करनेवाले को ऋषि नहीं कहते।[9] ऋषि वे हैं जो मंत्रों के दर्शनमात्र कर सकते हैं– **ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः।**

यह सामर्थ्य उन्हें प्रतिविशिष्ट तप से प्राप्त हुई थी। आपस्तम्ब[10] को यह खेद है कि कलिकाल में साक्षात्कृतधर्मा ऋषियों का अभाव हो गया है। इसी अकर्तृत्वसिद्धान्त को कुमारिल

आदि मीमांसकों ने और एक पग आगे बढ़ा दिया। ये लोग ईश्वर को भी वेद का कर्ता नहीं मानते। 'अपौरुषेय' शब्द केवल पार्थिव शरीरधारी पुरुषों का ही निराकरण नहीं करता, वरन् कर्तृत्वमात्र का ही निषेध करता है। वेदों के शब्द त्रिकाल में बने रहते हैं। उनकी स्फोट स्थिति निर्बाध रहती है, विशेष युगों में उनकी व्यक्तिमात्र हो जाती है। वेदों में देवतावाद, इतिहास आख्यायिका-विकास, भाषा-विकास, आदि अध्ययन के विषय भूतान्वेषी पश्चिम ने हमें प्रदान किए हैं। भारतवासियों के लिए वेद-ज्ञान सनातन, अमर, अनादि, अनन्त अर्थात् त्रिकालातीत है। वह भूतकाल के लिये था, किसी युग विशेष के मस्तिष्क की उपज था, उसी समय के समाज के लिये उसका उपयोग था, इत्यादि बातें पश्चिम के मस्तिष्क में सबसे पहले आती है। भारतवर्ष का जो स्वदेशी जीवन है, उसके रोम-रोम में वेद अब भी वर्तमान है। हमारे समस्त संस्कार नित्य कर्म अब भी उन्हीं मंत्रों से होते हैं, जिनको **पूर्वे पूर्व जनाः, पूर्वे ऋषयः**,न जाने अब से पाँच या दस या बीस हज़ार वर्ष या 1,97,29,49,029 वर्ष पहले गाते थे। भारतवर्ष को भूतकाल का हिसाब नहीं लगाना है। एक अरब सन्तानवे करोड़ वर्ष वेदों की आयु बताते हुए हमें तिथिक्रम का ध्यान करने की आवश्यकता नहीं है। इस अंक-समुदाय में से एक-एक संवत् घटाकर उसका हिसाब लगाना हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है। हमें अपने सुदीर्घ काल में तिथिक्रम संक्रमित करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

सृष्टि-संवत्सर का काल युगाभिमुख नहीं है, अर्थात् उसमें ऐतिहासिक युगों या सर्गों (Periods) का विभाग नहीं है। स्वयम्भू आदि मन्वंतरों और कृत-त्रेतादि युगों या श्वेतवाराह आदि कल्पों के विभाग ऐतिहासिक नहीं, वे सृष्टि-सम्बन्धी हैं। इसी प्रकार से मिलते-जुलते युग-विभाग[11] पश्चिमी भूगर्भशास्त्र[12] में पाए जाते हैं–

- अजंतुक (Azoic) 80 करोड़ वर्ष - कोई जीव नहीं।
- प्राग्जंतुक (Protozoic) 60 करोड़ वर्ष - काई, श्यान, मत्स्य आदि।
- पूर्व-पराजंतुक (Early Palaezoic) 36 करोड़ वर्ष - समुद्री बिच्छू, अमेरु जीव।
- अपर-पराजंतुक (Later Palaezoic) 26 करोड़ वर्ष - मीन, झष, दलदली जंगल।
- मध्यजंतुक (Mesozoic) 14 करोड़ वर्ष - सरीसृप आदि।
- प्रत्यग्रजंतुक (Cainozoic) 4 करोड़ वर्ष - स्तन्यपायी जंतु।

इसी क्रम से इओसीन, मिओसीन, प्लिओसीन तथ चारों हिमयुगों का सिलसिला सब प्रागैतिहासिक है। उस समय प्राकृतिक जगत् की सत्ता रहती है, पर उसमें मानवी इतिहास की संज्ञा का उदय नहीं देखा जाता। कृषि का आविष्कार अब से पंद्रह सहस्त्र वर्ष पूर्व ही माना जाता है और इसी अवधि के भीतर सारा इतिहास मानवी है। इस मानवी इतिहास की एक-एक दशाब्दी को पुनरुज्जीवित करने में ऐतिहासिकों का घोर परिश्रम है।

मन्वंतर युग-विभाग और भूगर्भ युग-विभाग में एक मौलिक भेद है। एक भारतवर्ष की चीज है, दूसरी आधुनिक पश्चिम की। एक में समय की कल्पना ध्रुवाभिमुख है, अर्थात् समय के समुदाय को ही इकट्ठा करके देखते हैं। इसलिये कृत-त्रेतादि चतुर्युग विभाग पुनः-पुनः चक्रवत् घूमता है। एक सतयुग में दूसरे सतयुग से कुछ भेद नहीं। ये दोनों एकरस समय की नाप में एक

समान ही दो निशान है। परंतु दूसरे में अजंतुक, प्राग्जंतुक, आदि भूगर्भ के विभाग युगाभिमूख हैं। जो युग एक बार हो गया, वह फिर लौट कर नहीं आ सकता। प्रत्यग्रजंतुक-युग में अजंतुक, प्राग्जंतुक, पराजंतुक और मध्यजंतुक युग भूतकाल कहे जायेंगे और भविष्य में उनके दर्शन की फिर कोई सम्भावना नहीं, परन्तु वर्तमान वैवस्वत मन्वंतर में एक ही प्रकार के अट्ठाइस त्रेता या द्वापर बीत चुके हैं, और अभी तैंतालीस बार फिर उनकी पुनरावृत्ति होगी। मन्वंतरों या युगों की संख्याएँ ऐतिहासिक विशेष का निर्देश करने के लिये नहीं हैं, वे गिनने की सुविधा के लिये हैं।

कुछ लोग वेदों को बीस या तीस सहस्त्र वर्ष पुराना कहकर बड़े प्रसन्न होते हैं। परन्तु यह भाव भारतवर्ष के परम्परागत विचार के विरुद्ध है। वेद को पाँच हज़ार वर्ष पुराना कहने या बीस हज़ार वर्ष पुराना कहने में कोई भेद नहीं है। इन दोनों का ही आर्य-अनुश्रुति से विरोध है। वेदों में पुराणत्व धर्म का अध्यारोप ही अभारतीय है। फिर वह पुरानापन चाहे जैसा हो। हिंदू भाव तो श्रुति को सनातन मानता है। सनातन कालातीत है, पुरातन भूत-परिच्छिन्न है। दास और तिलक के दृष्टि-बिंदु में कोई भेद नहीं है। दोनों के प्रमाण द्विविध होने से परिणाम दो तरह के दिखाई देते हैं। आसमुद्रांत सरस्वती बीस सहस्त्र वर्ष से और मृगशिरा के सप्तर्षि छह सहस्त्र वर्ष पूर्व से संतुष्ट होते हैं। भूत की अवधि दोनों में है। दोनों की पुष्टि के लिये इतिहास के प्रमाणों की अपेक्षा है। विशुद्ध भारतीय मत इतिहास से अतीत है।

कभी कभी यह प्रश्न कुछ मनुष्यों को चक्कर में डाल देता है कि दर्शन और साहित्य के सब अंगों की उन्नति कर लेने पर भी इतिहास की ओर से भारतवर्ष ने इतनी उदासीनता क्यों प्रकट की। इसके समाधान में विचित्र कारणों की उद्भावना की जाती है। परंतु सबसे तह की बात यह है कि ऐतिहासिक विमर्श के लिए भारतीय संस्कृति की आत्मा में तिलभर भी जगह नहीं है। इसलिए भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में इतिहास है ही नहीं, सब पुराण ही है। यही बात यूनान के विषय में भी घटती है। वहाँ के प्रसिद्ध ऐतिहासिक थ्यूसीडाईड्स ने अपनी समकालीन घटनाओं के ही वर्णन करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की है। फ़ारस और यूनान के युद्धों का हमारे अर्थ में ऐतिहासिक वर्णन करना उसके लिए असम्भव था। इतिहास लिखने के लिए व्यापक दृष्टि आवश्यक है। व्यापकदर्शिता[13] के बिना समय के बड़े-बड़े विभागों का एकाग्र पर्यवेक्षण नहीं हो सकता। कई शताब्दियों के युगपद अवलोकन की शक्ति यूनानी ऐतिहासिकों में नहीं थी। वे वर्तमान के वर्णन में शूर थे। थ्यूसीडाईड्स की इतिहासज्ञता (इति+ह+आस+ज्ञता) इसी बात से व्यक्त हो जाती है कि उसने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ के पहले ही पृष्ठ पर ही लिखा है कि हमारे समय (लगभग 400 ई.पू.) से पहले संसार में कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं हुई है। रोम का इतिहास लिखनेवाले टेसिटस और पवलियस के विषय में भी यही बात चरितार्थ होती है। यह कहा जाता है कि 250 ई.पू. के रोम का जो इतिहास आज हमें मालूम है, रोमन लोग उसे नहीं जानते थे। आधुनिक विद्वत्ता ने अपार परिश्रम से उस इतिहास को तैयार कर लिया है। स्वयं रोमन लोगों के लिए वे पौराणिक सत्य थे, जिन्हें हमने ऐतिहासिक घटनाओं का रूप दे दिया है।

अपने समय के कुछ ही दशाब्दी पूर्व घटित घटनाओं के विषय में रोमन लोगों का ज्ञान अधूरा था। आजकल के इतिहासिक अपने देश के इतिहास को तो भूत की गुहा में से निकाल ही

लेते हैं, अन्यान्य देशों तथा सारे संसार के भूतकाल को भी प्रत्यक्ष देखने की सामर्थ्य उनमें है। थ्यूसीडाईड्स के लिये वर्तमान में विचरण करना सरल था, पर आधुनिक ऐतिहासिक जितना वर्तमान के समीप आता जाता है, उतना ही वह अपने कृत्य में असफल हो जाता है। श्री हर्नशा के मत में वैल्स की 'आउटलाइन ऑफ़ हिस्ट्री' भूतकाल के लिये तो दिव्य है, परन्तु वर्तमान की ओर सरकते हुए वह अविश्वसनीय और पक्षपात-दूषित हो जाती है।[14]

सारा अतीत काल भारतवर्ष के लेखकों के आगे पौराणिक कलेवर धारण कर लेता था। उसके वर्णन में न समय के तिथिक्रम का भाव था, न भौगोलिक निर्णय का। चरितनायकों के कृत्य एक ही साँचे में ढल जाते हैं। किसी दानी के वर्णन में **गवामयुतं कोटचश्व** ही बना-बनाया रूप है। **महाधनरत्नौध राशि**[15] ही सर्वत्र दी जाती है। घटना कोई चीज ही नहीं। दरअसल हज़ार दी गई या लाख– यह घटना है। हज़ारों-लाखों दी गई– यह असंख्यता या अनन्तता है। इसमें विभिन्नता नही, इसका रूप 'सर्व' सर्वत्र सर्वदा' है। हम संख्याओं के गुलाम नहीं थे। धर्म को नित्य मानकर इसके शाश्वत आदर्शों की सजीव अभिव्यक्ति ही हमारे इतिहास-पुराण का लक्ष्य था। हरिश्चन्द्र दानी थे, यह सत्य है। उनके लाख या एक कम लाख देने से दानीपने में कुछ फ़र्क नहीं पड़ता। उनकी परीक्षा में देवताओं ने भाग लिया या मनुष्यों ने, इससे भी क्या?

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या उन जातियों में इतिहास था ही नहीं, जिन्होंने अपना इतिहास हमें खुद लिखकर नहीं दिया। नहीं, उनके संवत्सर और दिन भी उतने ही ज़्यादा घटनापूर्ण थे, जितने आज हमारे हैं। यदि उस समय समाचार-पत्र निकलते होते, तो उनके स्तम्भ भी वैसे ही सनसनीदार और ज़ोरदार और काम की बातों से भरे रहते, जैसे आज हमारे यहाँ रहते हैं। वैदेह जनक के बहुदक्षिण यज्ञ के अवसर पर जो अध्यात्म ज्ञान की महासभा (Philosophical Congress) हुई थीं, और जिसमें अश्वल, भुज्यु, आर्तभाग, कहोड, उषस्त, उद्दालक, गार्गी और शाकल्य ने याज्ञवल्क्य के साथ प्रमुख भाग लिया था, वह समाचार-पत्रों के स्तम्भों के लिये किसी भी महायुद्ध (Great War) से महिमा में कम नहीं है। हर एक संस्कृति की आत्मा के साथ तरह तरह की घटनाओं का अपेक्षाकृत मूल्य घटता-बढ़ता रहता है। आज एक राजनीतिक महारथी की मृत्यु से जो खलबली मचती है, वह किसी संन्यासी, विद्वान् या कलाविद् की मृत्यु से नहीं। घटनाएँ दोनों है, पर दो संस्कृतियों ने उनके महत्त्व में भारी भेद डाल दिया है। सिद्धार्थ गौतम के महाभिनिष्क्रमण का जो मूल्य भारतीय संस्कृति में है, किसी जहाज का उत्तरी ध्रुव की यात्रार्थ निष्क्रमण आधुनिक योरोप के लिए उससे कहीं अधिक मूल्यवान् है। एक आयोजन अनन्त की खोज के लिए, दूसरा देश[16] पर विजय पाने के लिए। इसी में दोनों का भेद है।

विगत शताब्दियों में भी बड़ी-बड़ी घटनाएँ हुई थीं। उनकी संस्कृति का जीवन भी बड़ी हलचल का था। पर आज हमारे इतिहास-पृष्ठों में उनके वर्णन के समय श्मशान की सी शान्ति देख पड़ती है। मिस्र, चाल्डिया, बेबिलोनिया, असीरिया, पर्शिया, कारथेज, इन सबको एक-एक अध्याय की तंग कोठरी में बन्द करके चटपट समाप्त कर दिया जाता है। यूनान और रोम का वर्णन अवश्य कुछ विशद रहता है; क्योंकि आधुनिक योरप अपने आपको भूले से उन संस्कृतियों का उत्तराधिकारी समझ बैठा है। आधुनिक ऐतिहासिकों ने संसार के सर्वत्र तीन विभाग कर रखे हैं–

प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन (Ancient, Medieval, Modern)। अर्वाचीन योरोपवासी अपने आपको उसी तरह प्राचीन ग्रीस-रोम का उत्तराधिकारी समझते हैं, जिस तरह आधुनिक भारतवासी अपने आपको वैदिक ऋषियों का। पर पेटीक्लीज और याज्ञवल्क्य– दोनों ही आज के योरोप और भारत को देखकर स्तम्भित हो जायेंगे। आधुनिक 'आत्मकथाओं' का अर्थ याज्ञवल्क्य की समझ में आ ही न सकेगा।[17] प्रकृति के साथ रहनेवाले वाल्मीकि को मुर्दा अज़ायबघरों का तत्त्व समझने के लिये अपना चोला बदलना होगा। नगरों की व्यात्ताननी प्रभुता गाँवों, वनों और आश्रमों के जीवन को खा गई है। इस कल्पित युग-विभाग से सच्चा ऐतिहासिक मूल्य विनिर्णय हो ही नहीं पाता। बस, एक योरप का पश्चिमी भूखण्ड सर्वेसर्वा है। उसी के लिये शेष संसार का जीवन-मरण और स्थिति है। योरोपीय सभ्यता जिसको जैसा समझ ले, उसका वही रूप ठीक है। इस संस्कृति के कर्णधार संसार के भूत-भविष्यत् का जो रूप निश्चित कर दें, वही सबके सिर पर पैर रखकर खड़ा रहता है। शेष देशों की बुद्धि को पक्षाघात हो गया है। पर योरप को अपनी धुन में अपना घर संभालना है। उसके लिये पैरिस का जो महत्त्व है, वह पाटलिपुत्र का क्यों होने लगा? उसका काम लंडन से चलता है, वाराणसी से नहीं। इसलिये इसका अवलोकन भी सीमित हो जाता है। इस प्रकार के दृष्टिकोण से लिखे हुए विश्व-इतिहासों में अट्ठारह बिसवे योरप के और शेष दो की बांट-चोंट में और सब संस्कृति भुगत जाती हैं। वर्ल्ड-हिस्ट्री कहलानेवाली एक भी पुस्तक लेखक ने ऐसी नहीं देखी, जिसमें भारतवर्ष की संस्कृति को उसका उचित स्थान मिला हो, या ग्रंथकर्ता ने उसके समझने में कुछ विशेष परिश्रम किया हो। योरप का जंभासुर सब कुछ अपनी ही दष्ट्राओं में रख लेता है। उसी के विघस को खाकर आज सब सभ्यताओं के इतिहास प्राणवंत हो रहे हैं। परन्तु इतिहासानुसारी जगत् में इस प्रकार की अन्धाधुन्ध नहीं चल सकती। यदि ऐसा हो, तो कोई चीनी उसी ग्रंथ को विश्वेतिहास कहने का अधिकारी, होगा, जिसमें लाउत्सी का ही ज़्यादा ज़िक्र हो, जिसमें शिन (221 ई.पू.) तंग[18] (618 ई.) और शुंग (960 ई.) वंशों का ही विशेष विवरण हो, तथा जो क्रूसेड, रिनेसां आदि घटनाओं को रद्दी समझकर उन पर ध्यान ही न दे। वस्तुतः इसी अवांछनीय मार्ग पर पश्चिमी इतिहास-लेखक चल रहे हैं। दूसरी संस्कृतियों के भाव-विकार उसी सूक्ष्मता, विशदता और महत्त्व के साथ नहीं देखे जाते, जैसे योरप के 'सभ्य' भूखण्ड के। यही भूखण्ड ऐतिहासिक मण्डल का सूर्य है, इसी के चारों ओर अन्य सब संस्कृतियाँ चक्कर लगाती हैं, इसी आदित्य के तपने से सबको आलोक प्राप्त हो रहा है। आज जो योरप सोचता है, उसी की छाया हम सर्वत्र ढूँढ़ते हैं। योरप के ही ढले हुए शब्दों, यथा कम्यूनिज्म, सोशलिज्म, डिमोक्रेसी, नेशनेलिज़्म, आदि में सब सभ्यताओं के इतिहास को घसीट लाने की कोशिश सब करते हैं। अपना दर्शन जब तक पश्चिमी परिभाषा के शब्दों में न कहा जाय, सारयुक्त नहीं जान पड़ता।[19] पश्चिम के शब्द पाकर मानो वह नये आलोक से खिल उठता है। हमको अब शुष्क दर्शन की चाह है, दार्शनिकों की नहीं, अर्थात् भारतीय दर्शन या ज्ञान को प्रत्यक्ष चरितार्थ करनेवालों का हमारी निगाह में इतना मूल्य नहीं, जितना फिलॉसफी की चेयर को सुशोभित करनेवाले दार्शनिक विद्वान् का। 'ऐपिस्टोमालोजी' से हम जितने रोमांचित होते हैं, 'ज्ञान' शब्द से नहीं। प्राचीन विज्ञान भी पाश्चात्य पारिभाषिक शब्दों का आवरण पाकर सुशोभित मालूम होता है। जब कोई विद्वान् पुराने शब्दों को नया कवच पहनाकर उपस्थित करता है, तब

हमारी आँखें उस विषय में कुछ खुलती है।[20]

रेल, तार, हवाई जहाज के नाम और रचना-विधि को उन संस्कृतियों में ढूँढ़ना, जहाँ इनकी कुछ आवश्यकता न थी, उसी पश्चिमाक्रांत प्रवृत्ति का द्योतक है। हम इस शताब्दी में मान बैठे हैं कि भाप, बिजली और अणुवीक्षण के प्रयोग ही उच्चतम सभ्यता के चिह्न हैं। इसी भ्रांति को लेकर प्राचीन भारतवर्ष में भी कितने ही लोग उनकी तलाश करते हैं; क्योंकि बिना इन चीजों के वह सभ्यता भी ऊँचे दर्ज़े की नहीं हो सकती थी। आधुनिक पाठक यास्क के गम्भीर नैरुक्तिक विमर्शों से इतना प्रफुल्लित नहीं होता, जितना कि निरुक्त में इत्तिफाक से आए हुए 'लॉ ऑफ़ रिफलैक्शन ऑफ़ लाइट' से होता है।[21]

यह विचारों का संकर किसी संस्कृति के सच्चे अध्ययन में बाधक है। हिंदुओं की प्राचीन संस्कृति को समझने के लिये उसकी विशेष आत्मा का ध्यान रखना ज़रूरी है। साहित्य, कला, विज्ञान, समाजशास्त्र, दर्शन, धर्म, दण्डनीति, अर्थशास्त्र– ये सब संस्कृति के बाह्य चिह्न हैं। इस कारणों को नियन्त्रित करनेवाली आत्मा है। आत्मजुष्ट होकर ही इन्द्रियाँ कार्य करती हैं। इस आत्मदृष्टि से भारत का इतिहास लिखा जाना अभी बाकी है। विविध अंगों का वर्णन बिना अंगी के आधारशून्य है। इसी कारण हम **इंद्रों वृषा** में मिस्र देश की पशु-पूजा (Totemism) देखने लगते हैं और मदन का निग्रह करनेवाले अरूपहार्य योगी शिव की उपासना को शिश्नोपस्थ-पूजन (Phallic Worship) कह देते हैं![22] हमारे बहकने के कितने ही रास्ते हैं। कमल का भारतीय अर्थ हम नहीं देख पाते। सारा ब्रह्माण्ड विष्णु की नाभि से उद्गत सहस्रदल पद्म से उत्पन्न हुआ है, पिण्ड भी ब्रह्माण्ड स्थित सहस्रार दल कमल से ही बनता है, मातृकुक्षि से जन्म भी मृणाल और पद्म के रूप में होता है, इस प्रकार समस्त विश्व कमल में प्रतिष्ठित है। कमल अनन्त सृष्टि का व्यञ्जक है। इस कमल ने हमारी कला के विकास में प्रमुख भाग लिया है। उसकी भाषा को न समझने से हम भारतीय कला में 'पर्शिया की घण्टी' के दर्शन करने लगते हैं। श्री बार्नेट[23] के मत में योगी कौन है? A God-possessed wild mystic– ऐसे जंगली मिस्टिक का भाव लेकर निम्नलिखित मन्त्र को समझने से भारतीय संस्कृति का कैसा विकृत रूप हो जाता है–

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं च प्रपद्ये क्षेमं च क्षेमं प्रपद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यां अस्तु॥

–अथर्ववेद, 19.8.2

अथवा यज्ञ का एकमात्र Sacrifice अर्थ लेकर पुरुष-सूक्त के **यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः** के अर्थ अर्थहीन हो जाते हैं। जब तक मूल तत्त्व की अचिंत्याप्रमेयता की दृढ़ प्रतीति न होगी, तब तक उसके लिंग या लाक्षणिक ज्ञान का भेद कैसे समझ में आ सकता है? समस्त कर्मकाण्ड और पुराण-ज्ञान ध्यानयोग से विनिश्चित अचिंत्य भावों का लाक्षणिक (Symbolic) रूप हैं। एक ही ब्रह्माण्ड के दो शकल द्यावाभूमि दो कपाल हैं। इनमें ऐंद्राग्न (द्वादश कपाल), आग्नावैष्णव (एकादश कपाल), आग्नापौष्ण (एकादश कपाल), पुरोडाशों की कपाल-संख्या सब लाक्षणिक संकेत है।[24] ये पदार्थ नितान्त सत् नहीं हैं, इनको ऐसा मानना इनके मूल-प्रयोजन को ही भूल जाना है। वैदिक कर्मकाण्ड को उस समय की विराट् कल्पना से अलग काटकर देखने

से वह निर्जीव मालूम होता है। उसका भारतीयपन नष्ट हो जाता है। यह ग़लती पहले-पहल योरपवासियों से ही नहीं हुई है, आर्य संस्कृति की आत्मा को भूलकर उससे दूर हटे हुए हिंदू भी कर्मकाण्ड के सारे रहस्य को समझने में असमर्थ हैं। यास्क से भी पूर्व कौत्स ने वैदिक मन्त्रों को अर्थहीन कहा था।[25] वर्तमान पश्चिमी (West = European, American) सभ्यता के अबसे दो-तीन शताब्दी बाद नष्ट हो जाने पर उसका कितना ही कर्मकाण्ड (मैकेनिज्म, ऑपरेशन, अप्लाइड साइंस) आगे की संतति के लिये अगम्य हो जायगा। क्या प्रमाण है कि प्राचीन संस्कृति को न समझने की अपनी असामर्थ्य के कारण योरप जैसे उसे बर्बर या प्रमत्त कहता है, वैसे ही अगले लोग भी वर्तमान सभ्यता के बारे में गलती करने से बचे रहेंगे?

'भारतवर्ष का इतिहास' (History of India) अभी लिखा ही नहीं गया। इस नाम से जो दो-चार पुस्तकें प्रचलित है, वे योरपवासियों के विचारों के नमूने हैं। इतिहास से जो कुछ वे समझे हैं, उसी से यहाँ का इतिहास उन्होंने लिखा है। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता में राजनीति और राजवंश नगरों में पनपते हैं, इसलिये वहाँ की संस्कृति में भी नगरों का बड़ा प्रभाव है। शहरों ने ही उसकी किस्मत की उलट-पुलट में बड़ा हिस्सा लिखा है; बिना ऐसे सर्वाभिभावी शहर की कल्पना के पश्चिमी सभ्यता अचिन्त्य है। यहाँ के प्राचीन इतिहास में भी उसी राजसत्ता और नागरिक जीवन को ढूँढ़ने का सबसे अधिक प्रयास ऐतिहासिकों ने किया है। यद्यपि प्राचीन भारतीय संस्कृति जनपदों, ग्रामों और जंगलों में फूली-फली थी, और सर्वभक्षी राजसत्ता से उसका जीवन सर्वथा मुक्त था, तो भी अब तक के प्रायः सब ही इतिहास-ग्रन्थों में राजवंश, नृपचरित्र, साम्राज्य और सैनिक-विजय की ही प्रधान चर्चा है। संस्कृति के **जायतेऽस्ति-विपरिणमते-वर्धते-अपक्षीयते विनश्यति** आदि विकास की ओर अभी ध्यान नहीं दिया गया। संस्कृति के जीवन के विविध उन्नति-क्रम का दिग्दर्शन नहीं हुआ। उसके उषाकाल में जिस आत्मा ने अंगी बनकर संस्कृति में जन्म लिया था, उसको सामने रखकर पिछली घटनाओं की समीक्षा अभी होनी बाकी है। यह जान लेना पहली आवश्यकता है कि भारतीय संस्कृति (या अन्य कोई प्राचीन संस्कृति) उसी तरह हाड़-मांस से सम्पन्न थी, जैसे हमारा वर्तमान जीवन। उसके कार्यकलापों में उतना ही मानवी अभिरुचि का मसाला है, जैसा वर्तमान के अध्ययन में। अपने कल्पित युग-विभाग[26] की स्कीम में भारतीय संस्कृति को एंशेंट में डालकर उसे मुर्दा समझना इतिहास के साथ अन्याय है। संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन उच्च इतिहास है। ऐसा करने से हम मिस्र, यूनान, भारत, चीन, आधुनिक योरप– इन सबकी संस्कृतियों को तुलना के बराबर दर्ज़े पर ले आते हैं। इतिहासकार देश के पक्षपात से ऊपर उठ जाता है। पर उसे काल के मोह से भी ऊपर उठना चाहिए। इस प्रवृत्ति को कि आधुनिक समय में जो हो रहा है, वहीं सभ्यता है, तथा इससे पहले लोग यथापूर्व बर्बरता के युग के समीप थे, एकदम हटाना होगा। सब संस्कृतियों को पृथक् अस्तित्वयुक्त मानव या चेतन शरीरधारी मानकर उनकी आयु के वसंतकाल की एक कोटि में रखा जाय, उनके मध्यकाल या ग्रीष्मकाल को एकसाथ रखा जाय, तथा शरदकाल या अन्तिम अवनति-काल को एकसाथ मिलाया जाय। इस प्रकार सबका समान महत्त्व तो प्रकट होगा ही, साथ ही उन्नति और अवनति के सामान्य नियमों का भी आविष्कार हो सकेगा। एक विश्व-सूत्रात्मा अनेक संस्कृतियों के रूप में भिन्न देश और कालों में अपने स्वरूप को प्रकट कर रही है। अमुक

वस्तु महत्त्व की या सच्ची और अमुक असली रूप से बहुत दूर हटी हुई है– इस प्रकार का विवेक बहुत कठिन है। कुछ संस्कृतियाँ अभी घुटनों चल रही है, कुछ अभी उत्पन्न होने को बाकी हैं। सच्चे इतिहासकार का कर्तव्य है कि संस्कृति की आत्मा का पता लगाकर उसी के अन्दर घटनाओं का समन्वय ढूँढ़ने की कोशिश करे।

पश्चिम की इतिहास-प्रवृत्ति यद्यपि बहुत बढ़ी हुई है और इतिहास के रूप में अवसर्पी जगत् को उसने अत्यधिक समझने की कोशिश की है, फिर भी अभी इतिहास-दर्शन (Philosophy of History) का जन्म वहाँ नहीं हुआ। दर्शन ही सब ज्ञान की पराकाष्ठा है। विद्या का पर्यवसान दार्शनिक-विमर्श में होता है। इतिहास देश-काल के पक्षपातों से नहीं बच पाते। दर्शन सार्वभौम होता है। इतिहास-दर्शन की उत्पत्ति के बिना यह असम्भव है कि हम सब देशों ओर सब संस्कृतियों के साथ न्याय कर सकें। इस प्रकार के अध्ययन का प्रारम्भ सर्वप्रथम जर्मनी से हुआ है। वहाँ के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् आसेवाल्ड स्पेंगलर हैं। आपकी पुस्तक 'डिक्लाइन ऑफ़ द वेस्ट' (Decline of the West) इस विषय की पहली पुस्तक जब योरप के विद्वानों के हाथ में पहुँची, सबका ध्यान उसने आष्ट किया। इस ग्रन्थ-महोदधि का परिचय कभी अलग दिया जायगा। हमारा विद्वानों से विनीत अनुरोध है कि वे इस ग्रन्थ का (जिसका अंग्रेज़ी अनुवाद हो गया है) पारायण करें। उसी के सिद्धान्तों से प्रेरित होकर हमने भारतीय इतिहास के विषय में कुछ विचार प्रस्तुत किए है। यह विषय इतना गम्भीर है कि बिना कई परीक्षक विद्वानों के विमर्श के त्रुटि से बचना अशक्य है। स्वयं स्पेंगलर के ग्रन्थ में लोगों ने गलतियों को ताँता ढूँढ़ निकाला है। परन्तु कोई भी उसके मूल सिद्धान्तों के आगे सिर झुकाए बिना न रहा। यदि अन्य सज्जन इस विषय पर कुछ कहने की कृपा करेंगे, तो भारतीय इतिहास का बड़ा कल्याण होगा। इस प्रकार इतिहास का अध्ययन करने से ही पहली बार यह बात समझ मे आ सकती है कि भारतीय संस्कृति पर अन्दर-ही-अन्दर पश्चिम की कैसी गहरी छाप लग रही है और अब भी कौन-सा वर्ग उसके प्रभाव से कितनी दूर तक आत्मसंवरण करने में समर्थ हो सका है।

सन्दर्भ :

1. संस्कृत परीक्षाएँ जब से होती हैं, उनमें आज तक यह प्रश्न नहीं आया कि कालिदास कब हुए? अंग्रेजी कोर्स के इम्तहान इस प्रश्न से शायद ही कभी अपना छुटकारा कर सकें।
2. काल की अनंतता दिखाने के लिये लोमश ऋषि से और अच्छी कथा क्या हो सकती थी? लोमशऋषि ब्रह्मा के पुत्र है। ब्रह्मा की आयु लोमश का एक दिन है। पिता के पर्यवसान पर क्षौर-कर्म की जगत लोमश नित्य अपना एक रोम उखाड़कर फेंक देते हैं, अर्थात् लोमश के एक-एक रोम में एक-एक ब्रह्मा की आयु बसी हुई है। एक सृष्टि ब्रह्मा का एक दिन है। प्रलय उसकी रात्रि है। इस क्रम से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष की होती है। इस प्रकार लोमश के एक-एक रोम में कितनी सृष्टि और प्रलय समाए हुए हैं। अनंत काल की सांत अभिव्यक्ति की कैसी मधुर कल्पना की गई है। अंग्रेज़ी में लोमश की कथा का रहस्य यही है - The whok duration of the human race appears to be but a moment in eternity कौन कह सकता है कि अनन्तता की भाँति लोमश के रोम भी अनन्त नहीं है। इसी तरह ब्रह्माण्ड की स्थलत अनन्तता को व्यक्त करने के लिये शेषशायी विष्णु की कथा है (देखिए हमारा लेख 'सहस्त्रशीर्षा पुरुष और शेषशायी विष्णु', 'माधुरी', फरवरी 1928)। पृथ्वी से सूर्य 930 लाख मील दूर है। सबसे निकट का नक्षत्र चार प्रकाश वर्ष की दूर पर है। आकाशगंगा यहाँ से चार सौ प्रकाश वर्ष (Light years) दूर है। दूरवीक्षण से अब तक देखे

गए दूरतम नक्षत्र की दूरी यहाँ से चौदह करोड़ प्रकाश-वर्ष है। अर्थात् प्रकाश को यहाँ तक आने में 1,86,000 मील प्रति सैकण्ड की गति से चौदह करोड़ वर्ष लगते हैं। एक वैज्ञानिक का कहना है– ... In View of these unimaginable realitles the Erth spears to be but a speck in Infinity. पुराणों ने कहा है– **स्फारे यत्फणाचक्रे धरा शरावश्रियं बहति**, अर्थात् शेष के अनन्त फण-विस्तार पर यह पृथिवी एक शराव के मानिन्द है।

3. **विनश्यस्त्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति**। –गीता, 13.27

4. आयु की मर्यादा सौ वर्ष की है। जीवन एक यज्ञ है **(पुरुषो वाव यज्ञः** –छान्दग्योपनिषद्**)**। इसके बाल्य, यौवन, जरा– तीन विभाग हैं। इन तीनों 'संवनों' को पूर्ण करके मरना प्राकृतिक है। इसलिये बुड्ढों की मृत्यु पर शंख-घड़ियाल बजाना, आनन्दोत्सव मनाना तथा भोज देना हर एक बिरादरी में आज तक प्रचलित है। परंतु युवा की मृत्यु पर शोक मनाया जाता है। दाह-क्रिया के दूसरे दिन जिस क्रिया को 'घरिया बाँधना' कहते हैं, उसमें जीवन-यज्ञ के समस्त ज्ञान का रहस्य छिपा हुआ है। अंत्येष्टि-कर्मकाण्ड का वह अंश विशुद्ध रीत्या वैदिक और पुराना है। मनुष्य-देह एक घट है। उसमें जीवन-जल भरा हुआ है। प्रकृति ने ऐसी व्यवस्था की है कि वह जल उसमें से बराबर रिसता है, यहाँ तक कि सौ वर्ष में घड़ा स्वाभाविक रीति से खाली हो जाना चाहिए। अगर प्रकृति ही नर-देह को अमर बनाती, तो उसमें इंद्रियाँ बहिर्मुखी कभी न होतीं (**पराचिं खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः** –कठोपनिषद्, 4.1)। इसलिये यह सिद्ध ही है कि आयु-जल कभी बिलकुल छीजेगा ही। समय पर ऐसा होने से शोक की जगह हर्ष मनाना चाहिए कि प्रकृति की व्यवस्था पूर्ण हुई। घड़े के नीचे के छेद से बारह घंटे में जल का रीता हो जाना स्वाभाविक और शनैः शनैः रीतना है। परंतु उसके चौड़े मुँह से घड़ा क्षण-भर या अकाल में भी खाली किया जा सकता है। इसी प्रकार जीवन-जल का समय से पहले बिखरना अकाल-मृत्यु है। वह अप्राकृतिक और दुःखद मृत्यु है। सवेरे के भरे हुए घट में यदि सायंकाल को जल बच जाता है, तो उसे चौड़े मुंह से उड़ेल नहीं देते, और न उसमें और जल भरते हैं, जब तक कि नीचे के छेद से वह स्वयं ही रिक्त न हो जाय। दस दिन तक रात-दिन यह नाटक शोकग्रस्त मनुष्य की आँखों के सामने वरन् उसी के हाथों से कराया जाता है। एक दिन एक दशाब्दी के बराबर समझा जाता है। अकाल में अपना जल बिखेरनेवालों को शिक्षा दी जाती है कि स्वाभाविक आयु-मर्यादा की प्राप्ति के लिये प्रकृति-अनुगामी होना आवश्यक है। यज्ञ के तीनों सवनों की पूर्णता उसकी निर्विघ्न समाप्ति है। उसका बीच में खण्डित हो जाना यज्ञ-विध्वंस है। विध्वंस आसुरी और पूर्णता दैवी है। एकादशाह में तीन सौ साठ दीप और उतने ही ब्राह्मण-निमित्त पिण्ड (भोजन-सामग्री) संवत्सर के उपलक्षण हैं। अंत्येष्टि -कर्मकाण्ड भी शेष सब कर्मकाण्ड की तरह लाक्षणिक है। दस दिन तक इस 'एक्सपेरीमेंट' का 'डिमान्स्ट्रेशन' जंगल के किसी अश्वत्थ की छाया में होता रहता है। अश्वत्थ का अर्थ है विनाशी या भंगुर। गीता और उपनिषदों में विश्व को अश्वत्थ कहा गया है।

5. मिस्री के मेध्यचित्राक्षरों को पढ़ना संसार के महान् आश्चर्यों में से है। 1799 में नेपोलियन के मज़दूरों को नील के मुहाने के पास रोसैटा गाँव में खाई खोदते समय कुदाल की नोक से एक पत्थर मिला। इस पर मिस्री लिपि और यूनानी लिपि में एक ही लेख खुदा हुआ था। बीस वर्ष तक परिश्रम करने पर भी विद्वान् उसके अर्थ को न समझ सके। अन्त में फ्रांसीसी विद्वान् शमपोलियो मिस्री वर्णमाला का ठीक-ठीक उद्धार कर सका और रोसैटा स्टोन को पढ़कर फ्रेंच एकेडमी के आगे सुनाया। वहीं से मानो मिस्री इतिहास के अध्ययन का श्रीगणेश हुआ।

6. ब्राह्मण और सूत्रों में और भी पचासों जगह इतिहास-पुराण शब्द आया है। दर्शपौर्णमास यज्ञ की रात को पति-पत्नी रात में कैसे रहें– **तौ खलु जाग्रन्मिश्रावेवैता रात्रि विहरेयातामितिहास-मिश्रेण का केन चिद्वा**। –गोभिलगृह्यसूत्र, प्रपाठक 1, खण्डिका 6, सूत्र 6।

7. यास्काचार्य ने निरुक्त में तीन स्थानों पर इतिहास या ऐतिहासिकों का नाम लिया है। परन्तु ये तीनों ही अवतरण स्पष्ट कर देते हैं कि यास्क के इतिहास का अर्थ आधुनिक इतिहास की परिभाषा से बिलकुल अनितिहास अथवा पौराणिक ठहरता है।

(1) **तत्को वृत्रो, मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः**।2.16 अर्थात् वृत्र कौन है? निरुक्तविद्या के पण्डित मेघ को वृत्र कहते हैं। ऐतिहासिक लोगों का मत है कि त्वष्टा के एक असुर पुत्र का नाम वृत्र है। बात ऐतिहासिक की भी ठीक है। त्वष्टा अर्थात् सृष्टि-निर्माता के असुर पुत्र अर्थात् प्राणों का सर्वत्र सिंचन और वितरण करनेवाले **(असून रातीति असुरः)** पुत्र (प्रजा-विस्तारक) का नाम वृत्र (मेघ) हैं। पर इससे यास्काचार्य के इतिहास पद कि आधुनिक इतिहास से विभिन्नता मालूम होती है। (2) अश्विनीकुमार कौन हैं? द्यावापृथिवी को कोई अश्विनी मानते है, कोई दिन-रात को, कोई सूर्य-चन्द्रमा को, तथा ऐतिहासिक लोग दो पुण्यशील राजाओं को अश्विनी कहते हैं, (निरुक्त, 12.1)। (3) इसी प्रकार त्वष्टा की कन्या सरण्यू (पुराणों में इसका नाम संज्ञा या छाया है) का सूर्य के साथ विवाह और उनसे यम-यमी की उत्पत्ति को भी इतिहास कहा गया। (वही, 12.10)। वस्तुतः इनमें से एक भी मानवी इतिहास का अंश नहीं है, ये सृष्टि और प्रकृति की कथाएं हैं। वेद के अर्थों को सुगम करने के लिये उन्हीं के बीज-आधार पर इस प्रकार की कहानियों (वर्तमान अर्थ में गल्पों) को जिन्होंने लिखा, वे ऐतिहासिक कहलाए।

8. **समुपबृंहयेत्** में लिङ् लकार है। वेद में लिङ्, लोड्, लेट् और तव्य से ज्ञापित विधि विहितकर्म के अनुष्ठान की आज्ञा देती है। **समुपबृंहयेत्** में लिङ् से शपित 'समुपबृंहण करना चाहिए' ऐसी अपूर्व आज्ञा सिद्ध होती है। मीमांसा के अन्य शब्दों में **समुपबृंहयेत्** का लिङ्-प्रत्यय सिद्ध अर्थ को नहीं, वरन् कार्य अर्थ को कहता है।

9. जैमिनिदर्शन, सूत्राणि 27-32, अ. 1, पाद 1
जैमिनीयन्यायमाला (माघवाचार्य-कृत) वेदापौरुषेयत्वाधिकरण में उत्तर पक्ष इस प्रकार है -
पौरुषेयं न वा वेदवाक्यं स्यात्पौरुषेयता।
काठकादि समाख्यानाद्वाक्यत्वाच्चान्यवाक्यवत्॥53।
समाख्यात्रयापकत्वेन वाक्यत्वं तु पराहतम्।
तत्कर्त्रनुपलम्भेन स्यात्ततोऽपौरुषेयता॥54॥ अध्याय 1, पाद 1
अध्ययनसंप्रदायप्रवर्तकत्वेन समाख्योपपद्यते। कालिदासाद्रिन्थेषु तत्तत्सर्गावसाने कर्तार उपलभ्यन्ते। तथा वेदस्यापि पौरुषेयत्व तत्कर्तोपलभ्येत च चोपलभ्यते। अतो वाक्यत्वहेतुः प्रतिकूलतर्कपराहतः तस्मादपौरुषेयो वेदः। तथा सति पुरुषबुद्धिदोषतस्या प्रामाण्यस्यानाशंकनीयत्वा द्विधिवाक्यस्य धर्मे प्रामाण्यं सुस्थितम्।
यह प्राचीन भारत की विचार शैली है। आधुनिक सभ्यता में पोसे हुए विद्वज्जन इसी में बेचैन रहते हैं कि किस प्रकार भारत को उसके (निर्दोष) भोले 'अज्ञान' से मुक्त करें! माधव ने जिसको पूर्व-पक्ष बनाया था, वह आज उत्तर-पक्ष हो गया है– ठीक वे ही शकाएं आज उत्तर-पक्ष बन कर अपनी अतर्क्यता से माधव के उत्तर-पक्ष के प्रति मानो हँसती-सी हैं–
काठकम्, कौथुमम्, तैत्तिरीयकम्, इत्यादि समाख्या तत्तद्वेदविषयालोके द्दष्टा। तद्धितप्रत्ययश्च 'तेन प्रोक्तम्' (पाणिनि, 1.3.101) **इत्यर्थे वर्तते। तथा सति व्यासेन प्रोक्तं वैयासिकं भारतम् इत्यादाविव पौरुषेयत्वं प्रतीयते। किं च विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं, वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवत्, इति प्राप्ते ब्रूमः।** (यह माधव का पूर्व-पक्ष है, उसका सिद्धान्त आज पूर्व पक्ष बन रहा है।)

10. **तस्माद्दषयोऽवरेषु न जायन्ते नियमातिक्रमात्।** –आपस्तम्बधर्मसूत्र, 1.5.4; यही बात यास्क ने कही है– **साक्षात्तधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्तधर्मस्य उपदेशेन मन्त्रान् संप्रादुः** (नि. 1.20), अर्थात् पूर्व ऋषि धर्म का साक्षात् अवगम करते थे। अनन्तर काल वालो को, जो विज्ञान-शक्ति और तप में निकृष्ट थे, उन्होंने मन्त्रों का उपदेश अर्थात् अध्यापन किया।

11. युगाभिमुख– Periodic, युगाभिमुखता– Periodicity, ध्रुवाभिमुख– Polar, ध्रुवाभिमुखता - Polarity

12. देखिए वैल्स-कृत आउटलाइन ऑफ़ हिस्ट्री, पृ. 7। किन्हीं वैज्ञानिकों के हिसाब से कम-से-कम 80 करोड़ वर्ष पूर्व पृथिवी पर प्राणि-उत्पत्ति हुई (First appearance of life)।

13. Perspective

14. Increasingly untrustworthy and prejudiced as it approaches modern times. F.I.C. Hearnshaw

15. **रथानां कांचनांगानां किंकणीजालमालिनाम्। सहस्त्रं प्रददौ कृष्णो गवामयुतमेव च॥**

–महाभारत, आदिपर्व, सुभद्राहरण

16. Space, स्थल या दिशा।

17. वर्तमान युग की जयन्तियाँ भी पश्चिम की नकल हैं। उनका मनाना अच्छा है या बुरा, इतना कहने का साहस आज कौन कर सकता है? हमारा राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन उन्हें अपना एक अंग ही बना रहा है। परंतु भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति ने किसी महापुरुष की जयन्ती तब तक नहीं मनाई, जब तक उसे देश और काल से ऊपर उठाकर सनातन (अवतार) नहीं बना दिया। उदाहरणार्थ राम और कृष्ण की नवमी और अष्टमी– दो बड़ी जयन्तियाँ हैं। परंतु राम या कृष्ण पुरातनत्व से ऊपर उठा दिया गए। याज्ञवल्क्य, जनक, व्यास, कपिल, भरत, दिलीप या सहस्त्रों महापुरुष आज होते, तो उनकी जयन्ती ज़रूर मनाई जाती। परंतु जिस संस्कृति ने भूत की उपासना करना नहीं सीखा, जहाँ देह को सदा बदलनेवाला जीर्ण वस्त्र कहा गया, वहाँ याज्ञवल्क्य की शाश्वत आत्मा को एक जन्म के साथ नत्थी कर देने का भाव कैसे सह्य हो सकता था। जयन्ती में अतीत का विषादमिश्रित भाव है। अमर आनन्द की अनुभूति में आत्मश्लाघा का भाव उदय ही नहीं होता। पश्चिम इस कला में पारंगत है। वहाँ हर एक व्यक्ति अपना जन्मदिन मनाता है। जो जीवन एक ही बार नसीब हुआ है, उसके एक-एक वर्ष पर गाँठ बाँधना भूत-पूजक सभ्यता में चरितार्थ हो सकता है। **बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि तब चार्जुन** कहनेवाले जयन्ती-उत्सव मना ही नहीं सकते थे। परंतु अब यह प्रवृत्ति इस देश में निरंतर बढ़ती ही जाती है। छोटे-छोटे नरेश और संस्थाएँ तक जयन्ती-उत्सव मनाने लगे हैं। भला इनका सार्वभौम जीवन से क्या सम्बन्ध है? प्रत्येक अवसर पर जिसकी जयन्ती मनाई जाती है, उसकी सर्वातिशायी स्तुति करना ही लोग अपना कर्तव्य समझते हैं। कुछ संस्थाओं को इनके द्वारा अपना 'समारोहमय जीवन' दिखाने का मौका मिलता है। न जाने इस प्रवृत्ति का कहीं अंत होगा या नही। भारत की आत्मा के अनुसार साल में एक दफे नहीं बल्कि प्रत्येक क्षण और निमेष में जीवन का 'स्टाकटेकिंग' होगा चाहिए।

18. तंग-वंश का पहला सम्राट् ताई शुंग बहुत उदार था। सब धर्मों के प्रति उसका अनुराग था, और लाउत्सी में विशेष भक्ति थी। इसी ने चीनी यात्री ह्वेनसांग का अपने दरबार में स्वागत किया था। दसवीं शताब्दी में तंग-वंश के बिखर जाने पर उत्तर के शुंग-वंश का प्राबल्य हुआ।

19. देखिए– *A Constructive survey of Upanishadic Philosophy.* आर.डी.रानाडे। इसमें उपनिषद् ज्ञान को पश्चिमी दर्शन के शब्दों में रखा गया है।

20. देखें– ब्रजेंद्रनाथ सील कृत– *Positive Sciences of the Ancient Hindus.* इसकी निर्वाचन शैली आधुनिक है।

21. **अथादित्यात्। उदीचिप्रथमसमावृत्त आदित्ये कंसं वा मर्णि वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्श-यन्धारयति तत्प्रतीप्यते सोऽयमेव सम्पद्यते**।- दैवत कांड 1.6.23।

इसका अनुवाद भी अंग्रेज़ी में ही अच्छा समझ में आ सकता है– When the sun is in the northern hemisphere] if a person hold a poslished piece of copper of crystal, focusing the sun-rays izfrLojs in a place where there is dry cow-dung, without touching it, then the cow-dung will be lit up, and thus this earthly fire will be produced from the sun. इस पर श्री लक्ष्मणस्वरूपजी का रिमार्क है– This shows that Yasha was familiar with the scientific law of the refraction of heat and light.

22. इंद्र और शिव के अर्थ हमने अपनी 'मेघदूत-मीमांसा' नामक पुस्तक में विस्तार से स्पष्ट किए हैं।

23. *Indian Antiquities* by L.D. Barneft.

24. कपाल-संख्या वैदिक स्वाध्याय का स्वतंत्र विषय है। द्यावापृथिवी का यज्ञ में एक कपाल माना जाता है। ब्रह्मांड एक ही है, उसके द्यौ और पृथिवी या ऊर्ध्वलोक और अधःलोक - रूप विभाग विराट् आकाश की दृष्टि से अतात्त्विक हैं। इसलिये **द्यावापृथिव्यमेककपालम्** कहा गया है। इसके द्वारा यज्ञ में ब्रह्माण्डांतर्गत समस्त वस्तुजात का ग्रहण हो जाता है। और भी, द्यौः को पिता और पृथिवी को माता रूप सो कहा गया है। माता-पिता का दूसरा रूप स्त्री-पुरुष है। स्त्री-पुरुष ही यजमान और उसकी पत्नी हैं। वे दो नहीं, एक ही है। भारतीय संसति में विवाहित स्त्री-पुरुष वेद के समय से एक माने गए हैं। गर्भाधान के समय पति कहता है– **द्यौरहं, पृथिवी त्वम्** (सब गृह्यसूत्र)।

इसी अभेद्य एकता के कारण स्मृति-ग्रंथों में कहा गया है– **यो भर्ता या स्मृताऽङंना**। –मनुस्मति, 9.45। अथवा– **न निष्क्रयविसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते**। –मनुस्मति, 9.46। संतान-रूप अग्नि के उत्पादन के लिये पुरुष उत्तरारणी और स्त्री अधरारणी है। इसी एक हिरण्यमयी अरणी के निर्मंथन से उत्पन्न हुई अग्नि संतति है। – बोधायनगृह्यसूत्र, 1.7.38।

अन्य कपालों का निर्देश संक्षेप में इस प्रकार है– रुद्र के एकादश कपाल। एकादश रुद्र प्रसिद्ध हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्, 3.9.4

एकादश रुद्र = त्रिष्टुप-छंद के एक चरण के अक्षर = 11 वर्ष, क्षत्रिय की ब्रह्मचर्योपयोगी वर्ष-संख्या।

अग्नि के अष्टकपाल। अष्टवसु। ब्राह्मणों के अष्टवर्ष = गायत्री का एक चरण

आदित्य के द्वादश कपाल। द्वादश आदित्य। वैश्यों की ब्रह्मचर्य वर्ष-संख्या = जगती छंद का चरण। इन्हीं तीनों के सम्मिलन से पुरुष-यज्ञ की पूर्ति होती है। छान्दोग्योपनिषद्, 3.16.1-7

आन्नावैष्णव कपाल = अग्नि के आठ और विष्णु के तीन, कुल 11 **(विष्णुस्त्रेधा विचक्रमे)**।

ऐन्द्राग्न अर्थात इन्द्र और अग्नि के 12 कपाल होते हैं– इन्द्र के 11 और अग्नि का 1। इन्द्र का सम्बन्ध इन्द्रिय, क्षात्रधर्म या क्षत्रिय से हैं। इन्द्र के इस रुद्रात्मक अर्थ में 11 कपाल हैं। इन्द्राशुनासीर को संवत्सर कहा है, इसलिये उनके द्वादश कपाल माने गए हैं। इन-इन उद्देश्यों की सिद्धि के लिये संस्कृत हविष्यान्न भी उसी-उसी संख्यावाले कपालों से संपृक्त रखा गया है। इसका विस्तृत विवेचन किसी स्वतंत्र लेख में किया जायेगा। यहाँ इतना लिखने का प्रयोजन केवल यही है कि वेद के गम्भीर रहस्य को समझने के लिये हमें स्वतंत्र उद्योग करना चाहिये। पाश्चात्य तरीकों से हम उस अर्थ की आत्मा तक नहीं पहुँच सकते। बाह्य शब्दार्थ तक ही पहुँच पाते हैं।

25. कौत्स की दलील यह थी कि वेद-मंत्रों के निरुक्त का निर्माण व्यर्थ है; क्योंकि मंत्र अनर्थक है। निरुक्त, 1.15

26. Ancient-Medieval-Modern का विभाग और इसमें अंगांगी (Organic) सम्बन्ध समझना महान् भूल है।

❖❖❖

इतिहास-दृष्टि : एक वैज्ञानिक विवेचन

डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय*

व्यावहारिक दृष्टि से 'इतिहास' व हिस्ट्री' शब्दों का प्रयोग विगत कालों के लिए ही किया जाता है, किंतु शब्द-व्युत्पत्तियों के आधार पर निष्पक्ष अर्थभेद इनके पर्यायवाची होने की प्रासंगिकता पर ही प्रश्न-चिह्न लगा देते हैं। पंद्रहवीं शताब्दी में लैटिन के रास्ते आंग्ल भाषा में व्यवस्थापित हुई 'हिस्ट्री' की व्युत्पत्ति ग्रीक मूल के 'हिस्टोरिया' से ही हुई थी, जिसका शाब्दिक आशय 'अध्याहरण' या 'जाँच-पड़ताल' (Learning or Knowing by inquiry) ही बनता है। ग्रीक मूल (Historia) के इस भावार्थ के विपरीत 'ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी' में History को पारिभाषित करते हुए इसे 'The branch of knowledge dealing with past events of a person, a thing, a country, a continent or the world' या फिर अन्य शब्दकोशों में कहीं-कहीं इसे 'Methodical records of past events & times especially relating to the human races' के रूप में भी उल्लिखित किया गया है। उपर्युक्त सन्दर्भों के परिप्रेक्ष्य में 'हिस्ट्री' के आनुवंशिक भावार्थ तथा इसके प्रचलित आशय में विद्यमान असमानता के स्वाभाविक मंतव्यों को बहुत ही सहजता से अनुभव किया जा सकता है। वस्तुतः विगतकालीन लेखा-जोखा के सम्यक् आकलनों हेतु जाँच-पड़ताल को एक आधार के रूप में स्वीकार तो किया जा सकता है, किन्तु व्यावहारिक रूप से प्रयोग किए जा रहे अपने नव-पारिभाषित आशय को प्रतिध्वनित करने की शाब्दिक क्षमता ग्रीक मूल के इस 'हिस्ट्री' शब्द में कहीं से भी झंकृत नहीं होती है। शब्दकोशीय मुखौटे से आवृत्त इस आंग्ल शब्द के विपरीत 'इति' (ऐसा ही) + 'ह' (निश्चयपूर्वक) + 'आस' (हुआ था) के समुच्य आशय से निर्मित संस्कृत का 'इतिहास' शब्द अपने भावार्थ को स्वतः ही पूर्ण परिपक्वता प्रदान करता दिखता है **(इति ह शब्दः पारंपर्योपदेशेऽव्ययम् इति हास्तेऽस्मिन्नितिहासः –सर्वानन्द कृत टीकासर्वस्व से)**। इस प्रकार 'इतिहास' का यह भारतीय भाव बिना किसी लाग-लपेट या शब्दकोशीय बैसाखियों के

* प्रस्तुत लेख लेखक की पुस्तक 'द्रष्टव्य जगत् का यथार्थ' का एक अध्याय है।

** डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय एक वरिष्ठ अंतरिक्षविज्ञानी हैं। भारतीय शास्त्रों का भी उनका गहरा अध्ययन है। 1990 में प्रधानमंत्री के विज्ञान एवं तकनीकी ओ.एस.डी. रहे हैं। वर्ष 2001 में नासा में अतिथि-व्याख्याता रहे हैं।

अपने स्वयं के बूते पर 'विगतकालीन घटनाओं के तथ्यात्मक वर्णन' के निहित अर्थों को व्यक्त करने में सक्षम सिद्ध होता है। *'Indian Wisdom'* नामक अपनी पुस्तक में 'So indeed it was; talk, legend, tradition and heroic of traditional accounts of former events' के विश्लेषणों द्वारा Iti-hasa (इति-ह-आस) के भारतीय मंतव्यों को अपने ढंग से दर्शाने के उपक्रम में पाश्चात्य विद्वान् सर मोनियर विलियम्स ने 'talk' (गप्प) व 'legend' (कहानी)-जैसे संकुचित शब्दों का प्रयोग करके जाने-अनजाने में अपने वाक्य-लय में व्यतिक्रमों (Synchysis) को ही उपस्थित किया है। जबकि भारतीय सन्दर्भों में वर्णित आशयों के अनुसार कल्पित, संदिग्ध या मानुषी वृत्तियों के एकांगी भावों के विपरीत इतिहास का तात्पर्य निश्चित रूप से घटित पूर्वकाल के मानवीय तथा अमानवीय घटनाओं के परिदृश्यों को सम्यकता से उपस्थित, करना होता है। इसी भावानुरूप **इति हैवमासीदिति यः कथ्यते स इतिहासः** (अर्थात् जिसके लिए यह कहा जा सकता हो कि यह निश्चित रूप से इसी प्रकार घटित हुआ था, ही इतिहास है) के प्रामाणिक अर्थों से अलंकृत करता है।

इस तरह परिभाषागत आधारों पर इतिहास का शाब्दिक अस्तित्व जहाँ पूर्वकालीन घटनाओं के समूचे विवरण को अपने में समेटे हुए ही उद्भाषित होता है, वहीं देश-काल के अनुसार वर्णित पुरानी वृत्तियों के सभी सन्दर्भों को इसके विभिन्न अंगों के रूप में ही चिह्नित किया जा सकता है। किञ्चित् इतिहास के इन्हीं वैशिष्ट्य को रेखांकित करने के ही उद्देश्य से आचार्य विष्णुगुप्त कौटिल्य ने पुराण, इतिहास, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र आदि को इसके स्वरूपों के तौर पर अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में उल्लिखित किया है **(पुराणमितिवृत्तमाख्यादिकोदाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रंचेतीहासः)**। भारतीय शास्त्रों में विगतकालीन घटनाओं की अभिव्यक्ति से सम्बन्धित नैसर्गिक लक्षणों के आधार पर 'इतिहास' के निम्नांकित भेद किए गए हैं–

1. **परात्य–** अति प्राचीन काल की घटनाओं से सम्बन्धित पुरानी रचनाओं को परात्य की संज्ञा से उद्बोधित किया जाता है। वायुपुराण (59.137) में **यो ह्यत्यन्तपुरोक्तश्च पुराकल्पः स उच्यते, पुरा विक्रान्तवाचित्वात्पुराकल्पस्य कल्पना** के द्वारा इसकी व्याख्या की गई है।

2. **पुरावृत्त–** ऋषियों द्वारा पूर्वकाल में कहे गए वृत्तांतों के पुनश्च उल्लेख को पुरावृत्त (अर्थात् पुरानी वृत्तियाँ) कहकर सम्बोधित किया जाता है। शौनकीय बृहद्देवता (4.46) में **इतिहास पुरावृतं ऋषिभिः परिकीर्त्तयते** तथा अमरकोश (1.6.4) में **इतिहास पुरावृत्तमुदात्ताद्यास्त्रयः स्वराः**' के वाक्य विन्यास द्वारा इसे पारिभाषित किया गया है।

3. **ऐतिह्य–** उन परम्परागत कथनों को, जिनमें वक्ता का नाम निर्दिष्ट नहीं रहता है, ऐतिह्य कहलाता है **(अनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमिति होचुवृद्धाऽइत्यौतिह्यम् –रत्नाकर)**।

4. **परति–** किसी अन्य व्यक्ति द्वारा वर्णित निश्चयात्मक घटनाओं के उद्धरणों को दूसरे की

रचना या परति कहकर व्यवहृत किया जाता है **(अन्यस्यान्यस्य चोक्तत्वाद् बुधाः परतिः स्मृताः –वायुपुराण, 59.136)**।

5. **इतिवृत्त–** ग्रंथ, शास्त्र या नाटक आदि के पूर्वपृष्ठ पर वर्णित विषय-सम्बन्धी संक्षिप्त विवरणों (Preface) को इतिवृत्त कहा जाता है।

6. **आख्यान–** अभिनय, पाठ व गायन द्वारा अल्प समय में ही किसी विशिष्ट पुरुष की जीवनी पर प्रकाश डालने की विधि को आख्यान के नाम से पुकारते है **(आख्यानकसंज्ञां तल्लभते यद्यभिनयन् पठन गायन –आचार्य हेमचंद्र कृत विवके से)**। आख्यान के मुख्य पात्र से सम्बन्धित किसी विशेष घटना के सविस्तार वर्णन को 'उपाख्यान' व प्रकारांतर कहे गए अन्य विवरणों को 'अन्वाख्यान' कहा जाता है।

7. **चरित–** महापुरुषों के अनुकरणीय जीवनियों के आद्योपांत वृत्तांत को चरित कहकर पारिभाषित किया जाता है। इस श्रेणी की रचनाओं में 'पुरुरवा-चरित' 'ययाति-चरित' व 'नहुष-चरित'-जैसे ग्रंथों को तथा मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की जीवनी से सम्बन्धित तुलसीदास के 'श्रीरामचरितमानस' को, चंद्रगुप्त की जीवनी से संबंधित 'हर्षचरित' को, गौतम बुद्ध से सम्बन्धित अश्वघोष के बुद्धचरित को, विक्रमादित्य षष्ठ से सम्बन्धित बिल्हण के 'विक्रमांकदेवचरित' को या फिर चौहानों के कृतित्व से सम्बन्धित जयानक के 'पृथ्वीराजचरित' को उदाहरणार्थ देखा जा सकता है।

8. **अनुचरित–** किसी महापुरुष के चरित में उनसे संबंधित किसी सहनायक या नायिका की जीवनी-शैलियों पर प्रकाश डालनेवाले भाग को अनुचरित कहते हैं।

9. **कथा–** चरित आदि के माध्यम से प्रधान पुरुष के काल में घटित घटनाओं की काव्यात्मक व्याख्या को कथा कहा जाता है **(यत्राश्रित्य कथान्तरमति प्रसिद्धिं निबध्यते कविभिः चरितं विचित्रमन्यत् सा च कथा चित्रलेखादिः –अमरकोश)**। रुद्र की 'त्रैलोक्यसुन्दरी' कथा, दण्डी की 'अवन्तिसुंदरीकथा' वररुचि की 'चारुमतीकथा' तथा 'बृहत्कथा', शूद्रककथा' व 'कथासरित्सागर' आदि इसके उदाहरण हैं। मिश्र का द टेल-एल-अर्मना' व अरबी सिंदबाद की कथा-शृंखलाओं को भी इसी रूप में देखा जा सकता है।

10. **परिकथा–** मुख्य कथा में वर्णित प्रधान पात्र के पूर्व-पुरुषों से सम्बन्धित घटनाओं के विवरण को परिकथा के रूप में चिह्नित किया जाता है।

11. **गाथा–** एक से अधिक कथाओं को उनके परिकथाओं समेत लोकभाषा में व्यक्त किए जाने के ढंग को गाथा के नाम से पुकारा जाता है। 'महाभारत' के 'इंद्रगीत' व 'अंबरीष गाथा', परसिया (जेंद-अवेस्ता) की 'पितर-गाथा', बाइबिल की 'जैनेसिस गाथा' एवम् 'अरेबियन नाइट्स' की गाथाओं को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

12. **वंश-वृत्तांत–** किसी कुल विशेष में जन्मे व्यक्तियों के शृंखलाबद्ध विवरण को वंश-

वृत्तांत कहा जाता है। 'गुरुवंश-पुराण', कालिदास की 'रघुवंश', आदि रचनाएँ इसी श्रेणी में आती हैं।

13. **अनुवंश**– किसी वंश-विशेष से निःसृत शाखाओं का स्वतंत्र विवरण अनुवंश कहलाता है। उदाहरण के लिए ययाति के ज्येष्ठ पुत्र रहे 'यदु' द्वारा पश्चिमी दक्षिणी भारत में अलग से स्थापित की गई यदुओं की शाखाओं या फिर यहूदी इब्राहिम के पुत्र 'इस्माइल' द्वारा अरब-प्रांत में हिब्रुओं से अलग स्थापित की गई शाखा (मुस्लिम मान्यताओं के अनुसार इस्लाम के संस्थापक हजरत मुहम्मद इन्हीं के वंशज रहे थे) का इनके मूल वंश से अलग किया जानेवाला स्वतंत्र वर्णन अनुवंश ही माना जाएगा।

14. **गोत्र-प्रवर**– प्राचीनकाल में आद्य ऋषियों द्वारा ज्ञान-विज्ञान की परम्पराओं को विकसित करने के उद्देश्य से विविध आश्रमों की स्थापना की गई थी। विद्या के केंद्र रहे इन आश्रमों से दीक्षित होकर निकले ऋषिपुत्रों व शिष्यों को तथा प्रकारांतर में उनसे संस्कारित हुए उत्तराधिकारियों से प्रसूत हुई शृंखलाओं को उसी मूल ऋषि के गोत्र से पहचाना जाता था। इस प्रकार राजपुरुषों या प्रतिष्ठित कुलों के अलावा विद्वज्जनों तथा उनके प्रयासों से विकसित हुई सभ्यताओं के इतिहास को ज्ञात करने का एकमात्र आधार गोत्रप्रवर ही सिद्ध होते रहे हैं। भार्गव, गर्ग, भरद्वाज शाण्डिल्य, सावर्ण, कौशिक, वासिष्ठ, मगमेडिज, पौलत्स्य-पुलेसाती पिलसगेन्यिस-पेलेस्टाइन, अत्रि-एट्रीयस, एटुस्कुन-आंगिरस, आर्गिनोरिस अंगोरियन आदि की परम्पराएं इसी के उदाहरण हैं।

15. **धर्मशास्त्र व अर्थशास्त्र**– इन शास्त्रों में उल्लिखित सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक दृष्टिकोण रचनाकाल की परिस्थितियों व मानवीय परिवेशों को समझने तथा इनका आकलन करने में बहुत हद तक सहयोगी होते हैं। **वेदान्त** (ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, संहिता व स्मृति-ग्रंथ), आगम (जैन ग्रंथ), त्रिपिटक (बौद्ध-ग्रंथ), ऐपोफा (यहूदी ग्रंथ), जेंद अवेस्ता (पारसी ग्रंथ), बाइबिल (ईसाई-ग्रंथ), कुरआन (मुस्लिम ग्रंथ) श्रीगुरुग्रंथसाहिब (सिख) आदि धर्मग्रंथों तथा नीतिप्रकाशिका, तंत्राख्यायिका, वेल्थ ऑफ़ नेशन (एडम स्मिथ) आदि नामकरणोंवाली अर्थशास्त्र की पुस्तकों को इन्हीं श्रेणियों में रखा जा सकता है।

16. **यात्रा-संस्मरण**– विभिन्न कालखण्डों में स्थान-विशेष के भ्रमण पर निकले यात्रियों द्वारा उस क्षेत्र के तात्कालिक परिवेश से सम्बन्धित संकलित विवरणों के आधार पर भी देशकाल की स्थितियों का खाका खीचने में सहायता मिलती हैं। मिश्र आदि देशों के भ्रमण पर आधारित यवन इतिहासज्ञ हेरोडोटस, डियोडोरस व स्ट्रैबो आदि के संस्मरणों, सिकंदर के साथ पूर्व देशों की यात्रा पर आए मेगस्थनीज का 'इण्डिका' नामक संस्मरण, भारत-भ्रमण से सम्बन्धित चीनी यात्रियों (फाह्यान, सुंगयुन, ह्वेनसांग व इत्सिंग) तथा अरबी यात्रियों (अलबिलादुरी, अल मसूदी, सुलेमान) द्वारा संकलित संस्मरणों व गजनी के सुल्तान महमूद के साथ भारत के पश्चिमोत्तर क्षेत्रों में प्रविष्ट हुए अब्बूरिहां मुहम्मद इब्न अहमद अल्-बीरूनी के किताब-उल्-हिंद एवं तिब्बती लामा तारानाथ के कंग्युर व

तंग्युर नामक ग्रंथों आदि को इसी क्रम में रखा जा सकता है।

उपर्युक्त वर्णित साहित्यिक वाङ्मयों व परम्परागत अनुश्रुतियों के अलावा पूर्व घटित सभी वृत्तातों को समष्टि रूप में ज्ञात करने के लिए भारत में अपने ढंग का एक अनूठा प्रयोग भी व्यवहार में लाया जाता रहा था। मत्स्यपुराण (53.63) के अनुसार पुरातन काल की घटनाओं को जानने की इस विधा को पुराण कहा गया है **(पुरातनस्य कल्पस्य पुराणानि विदुर्बुधाः)**। पुराणों के रूप में प्रचलित इस विधा की कुछ शाखाएँ आज भी भारतीय ग्रंथकोश में सहजता से उपलब्ध हैं। उपर्युक्त आशयों के अनुरूप किन्हीं प्राचीनतम घटनाओं का उनके भूतकालीन कारणों, तात्कालिक कारकों व सम्भावित परिणामों सहित विवेचना करने की भारतीय विधा को ही पुराण के रूप में पारिभाषित किया जा सकता है। इस प्रकार पुराण मात्र के उद्बोधन से भूत, वर्तमान व भविष्य का सम्यक् स्वरूप **(भूत भव्यं भविष्य च त्रिविधं कालसंज्ञितम् –महाभारत, 1163)** ही उद्भाषित होता है। वायुपुराण में निर्दिष्ट **यस्मात्पुरा ह्यनिन्तीदं पुराण तेन तत्स्मृतम्** के भाव के अनुसार पुरा अर्थात आद्य वृत्तियों को अनन यानी परवर्ती स्वरूपों तक लयबद्ध करने की विधि को ही पुराण कहा गया है। यद्यपि पुराणों की सर्वमान्य संख्याएँ (देवीभागवतपुराण व भविष्यपुराण को छोड़कर) कुल 18 (ब्रह्म, अग्नि, वायु, पद्म, ब्रह्माण्ड, शिव, कूर्म, लिंग, विष्णु, वराह, मत्स्य, वामन, नारद, गरुड, स्कन्द, ब्रह्मवैवर्त, मार्कण्डेय व भागवत और भविष्य) एवम् उपपुराणों की संख्याएं 29 (नरसिंह, हरिवंश, सौर, कल्कि इत्यादि) ही मानी गई हैं तथापि स्कन्दपुराण में वर्णित **पञ्चाशतु पुराणानि सेतिहासानि मानवाः** का अर्थ यह संकेत देता है कि उपर्युक्त अठारह पुराणों की रचनाओं **(अष्टादशपुराणसारसंग्रह कारिन्)** से भी पूर्व में पचास विभिन्न पुराणों के अस्तित्व विद्यमान रहे होंगे। वायुपुराणकार यह श्लोक **(पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरं व वक्त्रेभ्यां वेदास्तस्य विनिगताः** (अर्थात् सभी शास्त्रों की रचना से पूर्व ब्रह्मा ने पहले पुराण को ही स्मरण किया था और तदन्तर उनके मुख से वेद निकले थे) तथा **पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पन्तरेऽनघ** (यानी कल्पांतर में एक ही पुराण रहा था) की उक्तियां यह सिद्ध करती हैं कि पुराणों का आधुनिक स्वरूप इन्ही गत्यात्मकताओं का ही प्रतिफल रहा है। पुराणों में विशेषतया सर्ग यानी सृष्टि-रहस्य (Cosmology) प्रतिसर्ग यानी प्रलयों (Catastrophes or Deluges) तथा मन्वन्तरों यानी प्राणी-उद्भवों व उनके क्रमिक विकासों (Zoology & Anthropology), कालप्रभागों (Chronology) पर प्रकाश डालने के साथ-साथ वंश यानी ईश्वरीय सत्ता (Theology) तथा वंशानुचरित बने अस्तित्व में रही विभिन्न मानवीय वंशावलियों के क्रमों व कृतित्वों (Subject relating to history) का कारण, कारक व परिणामसहित वर्णन किया गया। **(सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च। वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥ –अमरकोश)**। विषयगत विराट् तत्त्व का इसका यह समष्टि रूप स्वतः प्रमाणित करता है कि बिना पुराणों के सम्यक् अध्ययन के, अद्यतन इतिहास के लयबद्ध क्रमों को उजागर नहीं किया जा सकता है। किञ्चित् इन्हीं वैशिष्ट्यों के आधार पर ही पुराण को इतिहास की आत्मा के रूप में भी विश्लेषित किया गया है। इतिहासपुराण के इस अंतर्निहित भेद को आचार्य रजनीश बड़े ही सुन्दर व स्पष्ट रूप

में व्यक्त किया करते थे। उनके अनुसार 'पुराण का मतलब : जो पहले हुआ, अभी भी हो रहा है और आगे भी होगा, जबकि इतिहास का मतलब : जो हुआ और चुक गया है, वैसा कुछ अब नहीं हो रहा है और आगे कुछ अन्य होगा; इतिहास लेख-जोखा है ऊपरी घटनाओं का, पुराण लेखा-जोखा है अंतरतम का। उसमें तिथियों का नहीं, बल्कि कालों का मूल्य होता है। कथा का विस्तृत वर्णन नहीं बल्कि सार ही यथेष्ट होता है अंतस्तल में अंकुरित करने के लिए। व्यावहारिक रूप से सृष्टि के प्रारम्भकाल से चली आ रही वृत्तियों की शृंखलाओं को तिथिक्रम के संक्षिप्त स्वरूपों में समेटकर ही सुरक्षित तथा पठनीय बनाए रखा जा सकता था। यही कारण है कि तिथिक्रम के हिसाब से इतिहास को लेखनीबद्ध करने के पाश्चात्य के लघुआयामी दृष्टिकोण के विपरीत भारत में काल के संक्षिप्त क्रमों के आधार पर अद्यतन इतिहास के बृहत् खण्डों को बिना किसी काट-छाँट के सहज बोधगम्य बनाए रखने की स्वाभाविक प्रक्रिया को ही वरीयता प्रदान की गयी। यद्यपि काल के लम्बे प्रवाह के कारण समय-समय पर पल्लवित हुए विश्वासों के परिप्रेक्ष्य में सृजित हुए क्षेपकों के जुड़ने से इनका मूल स्वरूप प्रभावित होता रहा, तथापि अर्थ-अनर्थ की तमाम व्याधियों के उपरांत इनके अंतस् में प्रवाहित अविरल धारा की अनुभूति सभी गोताखोरों को सहजता से हो ही जाती है। किञ्चित् इसी का परिणाम है कि विश्व के अन्यान्य शास्त्रों की तुलना में भारतीय सन्दर्भ बहुत ही सहजता व प्रभावी ढंग से प्राचीनतम घटनाओं के सूत्रों को आधुनिक परिवेशों के साथ स्थापित करते दृष्टिगोचर होते हैं।

वेदों को गड़रियों के गीत तथा भारतीय आख्यानों को काल्पनिक (Myth) रूप में प्रचारित करने में सिद्धहस्त रहे अंग्रेज़ राजनीतिज्ञ थॉमस बैबिंगटन मैकाले (भारत की आधुनिक शिक्षा पद्धति के जनक) के सहयोगी तथा व्यक्तिगत पत्रों द्वारा अपने पुत्र (would you say that anyone scared book is superior to all others in the world?... I say the New Testament. After that, I should place the Koran, which in its moral teachings, is hardly more then a later edition of the New Testament. Then would follow….. the old Testament, the Southern Buddhist Tripitaka…. And finally so on, the Veda and the Avesta) व सेक्रेटरी इंडिया, ड्यूक ऑफ आर्गइल (The ancient religion of India is doomed and if Christianity dose not step-in, whose fault will it be?) को ईसाइयत की उत्कृष्टता का बोध करानेवाले, जर्मन मूल के एवम् ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्राध्यापक फ्रेडरिक मैक्समूलर (Frederich Max Mueller) को भी अपने जीवन के अन्तिम पड़ाव पर भारतीय ग्रंथों में वर्णित इतिहास के अकाट्य प्रमाणों के समक्ष अंततः झुकना ही पड़ा था (उपर्युक्त उद्धरण पं. भगवद्दत्त जी के 'भारत का बृहद् इतिहास', प्रथम भाग व गुरुदत्त द्वारा रचित 'इतिहास में भारतीय परम्पराएँ' से लिये गए हैं)। किञ्चित् भारतीय सहित्य का आद्योपांत अध्ययन करने के उपरांत इसकी सारगर्भित झलकियों से अभिभूत हुए मैक्समूलर को, मृत्यु-पूर्व प्रकाशित अपने ग्रंथ 'इंडिया ह्वाट इट कैन टीच अस' (पृ. 21) में यह स्वीकार करना पड़ा था कि 'हिंदुओं के ऐतिहासिक दस्तावेज, ग्रंथ, साहित्य आदि सर्वाधिक प्राचीन तो हैं ही, तथापि वे इतने अच्छे, सुदृढ़ता से बने और व्यवस्थित उल्लेख हैं कि अतीत के खण्डित इतिहास को सुसंगत करने की सामग्री जो अन्यत्र नहीं मिलती, वह संस्कृत-ग्रंथों में मिल जाती है।

प्राकृतिक त्रासदियों के प्रभाववश विश्व के कुछ अंचलों के उत्पन्न हुए जैविक व्यवधानों के कारण अद्यतन काल से अविरल गतिमान रहे पौराणिकताओं के इस प्रवाहपथ में अनेकानेक क्षेत्रीय गतिरोध पैदा होते गये। इन गतिरोधों के परिणामस्वरूप इन क्षेत्र-विशेषों में इतिहास की अविच्छिन्न परम्पराओं के सूत्र ही बाधित नहीं होते रहे, अपितु नित नवीन अवधारणाओं के प्रस्फुटनों से यहाँ मानुषीवृत्तियों का भ्रमित तथा खण्डित स्वरूप ही शनैः-शनैः स्वीकार्य होता गया। पिछले हिमयुगी महाविनाश से लेकर ई.पू. 3200 तक की अवधि में घटित विभिन्न प्राकृतिक आपदाओं से फलस्वरूप जहाँ सम्पूर्ण यूरोप समेत पश्चिम व मध्य एशिया के जनजीवन निरंतर नष्टभ्रष्ट होते रहे, वहीं इन विभीषिकाओं में किसी तरह बचे रहे उत्तरजीवियों द्वारा यहाँ नयी सभ्यता का विकास भी होता रहा था। काल के लम्बे अंतराल में कई स्तरों पर हुए सामाजिक उथल-पुथलों से क्रमशः अस्तित्व में आई इन सभ्यताओं के परिणामस्वरूप यहाँ के लोगों के आचार-विचार व भाषा-बोली में भी गुणात्मक परिवर्तन आता गया। इस प्रकार देश-काल के हिसाब से विस्थापित हुए इन उत्तरजीवियों के मिश्रित वंशज अपने मूल स्रोतों से ही विलग नहीं हुए बल्कि परिरिस्थितिजन्य कारणों से सांस्कृतिक तथा भाषाई आधार पर भी एक-दूसरे से शनैः-शनैः दूर होते ही चले गये। कबीलाई परिवेश में पल्लवित हुई कूपमंडूक मानसिकता के चलते अतीत के प्रति इनका दृष्टिकोण अपनी जाति तथा क्षेत्र विशेष की परिधि से ही सिमटकर संकुचित हो गया। यही कारण रहा कि इनके द्वारा रचित इतिहास का सूत्र अपने कबीले या जाति के प्रथम पुरुष पर ही जाकर समाप्त हो जाता था और उससे पूर्व की स्थिति से पल्ला झाड़ने के लिए इनके इतिहासज्ञ प्रायः अंधकारयुग की सहज व भ्रांतिदायी कल्पना कर लिया करते थे। क्षेत्रीयता के व्याप्त भँवर में उलझी पड़ी रही पश्चिम की इन अवधारणाओं को बाह्य दृश्य दिखाने का सर्वप्रथम श्रेय यूनानी विद्वान् हेरोडोटस को ही जाता है। देशनिष्कासन के दंडवश मिश्र आदि देशों के भ्रमण के उपरांत एथेंस नामक यूनानी नगर में ई.पू. 447 आसपास पुनर्विस्थापित हुए हेरोडोटस (Herodotus, 484-425 BC) ने अपने यात्रा-संस्मरणों में संकलित की गई ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर क्षेत्रीयता के इस व्याप्त कवच को खण्डित करने का प्रयत्न किया। *'Historica'* शीर्षक से रचित उसकी कृति में मिश्र व यूनान समेत बेबीलोनिया आदि देशों की तात्कालिक परिस्थितियों के साथ-साथ यहाँ के पूर्व वृत्तांतों का भी उल्लेख हुआ था। चूँकि हेरोडोटस की इस अनुसन्धानात्मक प्रवृत्ति से अभिप्रेरित होकर पाश्चात्य जगत् के परवर्ती विद्वानों में विश्व इतिहास को जानने तथा इसे लेखनीबद्ध करने की प्रेरणा जाग्रत् हुई थी, अतः इन्हीं योगदानों के प्रतीकात्मक ही इस ग्रीक विद्वान् को उसके अनुगामियों द्वारा 'Father of History' (आधुनिक इतिहास के पिता) की मानद उपाधि से भी विभूषित किया जाने लगा। यद्यपि सुनी-सुनाई बातों या गल्पों पर आधारित हेरोडोटस के अधिकतर बचकाने सन्दर्भों की तुलना में थ्यूसिडिडस (Thucydides, 460-396 BC) नामक उसके एक अनुगामी की समीक्षात्मक कृतियाँ *(The Peloponnesian War)* अधिक सुव्यवस्थित रहीं थीं, तथापि तैथिक अनुक्रमों से इतिहास को प्रवाहमय बनाने का श्रेय प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात (Socrates, 469-399 BC) को ही जाता है। अपने *Hellenica* (हेलेनिका) आदि ग्रंथों के माध्यम से उसने यूनानी इतिहास का प्रारंभ वहीं से किया था जहाँ से थ्यूसिडिडस की कृतियाँ विराम को प्राप्त हुई थीं। यूनानी

विद्वानों द्वारा प्रचलित की गई इस परिपाटी से सम्मोहित होकर पश्चिम के अनेक शासकों में भी अपने अतीत के प्रति जागरुकता अंकुरित होने लगी। इसी के परिणामस्वरूप इन शासकों में अपने-अपने राजवंशों के इतिहास को लेखनीबद्ध करने की एक अघोषित प्रतिस्पर्धा भी प्रारम्भ हो गयी। राजपोषित बाध्यताओं के कारण इस कार्य के लिए अनुबन्धित किए गए विद्वानों की निष्ठाएँ प्रायः अपने स्वामियों के हितों के प्रति ही मुखर होती थी, अतः स्वभावतः इनके द्वारा सृजित ग्रंथों का स्वरूप भी निरपेक्ष नहीं रह पाया था। स्वार्थजनिक दोषों से परिपूर्ण रहने के उपरांत भी इन उद्यमों से पश्चिमी परिवेश में तैथिक अनुक्रमों की जिस लिखित परंपरा का सूत्रपात हुआ, उसी के आधार पर ही आधुनिक इतिहासज्ञों को वहाँ के अतीत को पारिभाषित करने में अपेक्षित सहयोग प्राप्त हो पाया था। वंशानुराग की इन्हीं स्वपोषित अवधारणाओं के अतिरेक में अपने पूर्वजों की कतिपय शृंखलाओं की विज्ञता से गर्वित रहे यहूदियों में यह विश्वास दृढ़ होता गया कि उनका सम्बन्ध विश्व की प्राचीनतम जाति से ही रहा है। एडम (हजरत आदम), नोह (हजरत नूह) व अब्राहम (हजरत इब्राहीम) आदि के क्रम से रहे यहूदी पूर्वजों की समान रूप से स्वीकार्यताओं के कारण तदनन्तर अस्तित्व में आई ईसाई व इस्लामिक मान्यताओं में भी मानवीय इतिहास का उद्भव प्रोफेट एडम या हजरत आदम से ही रेखांकित किया जाने लगा। ज्यूईस परम्पराएँ एडम के काल को ई.पू. 4004 का निर्धारित करती हैं। किञ्चित् इन्हीं आधारों पर ही सन् 1650 ई. में आयरलैंड के आर्क विशप जेम्स उशर तथा उनके समकालिक रहे कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के तात्कालिक उपकुलपति जन लाईटफूट ने समवेत रूप से यह रहस्योद्घाटित किया था कि 'मानव का सृजन 23 अक्टूबर, 4004 ई.पू. की सुबह नौ बजे त्रिदेवों द्वारा ही हुआ था' था (Man was created by the trinity on 23rd Oct. 4004 BC at nine O'clock in the morning) इसी तरह कुरआन मजीद (सूरा 56, आयत 13-26) की तफसीर करते हुए इब्नेकसीर, दुनिया के इनसानी जमात की कुल उम्र को आठ हज़ार वर्ष के लगभग ही ठहराते हैं (...जिस मिंबर के आख़िरी सातवें दर्जे़ पर तुमने मुझे देखा, इसकी ताबीर यह है कि दुनिया में इनसानी कौम की उम्र सात हज़ार साल की है और मैं, मुहम्मद मुस्तफा, इसके आख़िरी हज़ारवीं साल में मौजूद हूँ)।

कालांतर में विकसित हुई काल-विवेचनाओं की वैज्ञानिक विधियों के द्वारा विभिन्न उत्खननों (Excavations) में पाए गए पुरातात्त्विक अवशेषों (Archaeological Remnants)के परीक्षणों ने इतिहास लिखने की पश्चिमी विद्या और और अधिक सुव्यवस्थित तथा प्रामाणिक बनाया। आधुनिक वैज्ञानिक परिवेश में पुरातन अवशेषों के काल-निर्धारण के लिए स्ट्रैटोग्राफिक (Stretographic) तथा विघटन-संकेत (Decay Index) की विधियों को प्रयोग किया जाता है। पहली विधि से जहाँ मिट्टी या चट्टानों पर जमी परतों (Layers of Sediments) के आधार पर कुछ हज़ार वर्षों के पूर्वानुमान की सुनिश्चित किया जा सकता है, वहीं कार्बनिक विघटन यानी Dating of C_{14} की प्रक्रियाओं द्वारा पचास हज़ार वर्ष पूर्व तक की स्थितियों का सहजता से आकलन किया जा सकता है। इससे अधिक की अवधियों को ज्ञात करने के लिए वैज्ञानिकों द्वारा प्रायः पोटैशियम आर्गन (Potassium Argon) या फिर रूबीडियम स्ट्रांशियम (Rubedium Stroutium) की जटिल पद्धतियों का सहयोग लिया जाता

है। वैज्ञानिक विधियों के त्रुटिरहित प्रभावों के कारण की पुरातनवृत्तियों की सत्यता की परख के लिए आधुनिक इतिहासज्ञ, मानवीय परिवेशों में व्याप्त आनुवंशिक तत्त्वों के जीवन्त दृष्टांतों की अपेक्षा खुदाइयों के प्राप्त प्राचीन लिपियों (Old Scripts), मूर्तियों (Idols), स्तूपों (Monuments), खण्डहरों (Ruins), शिलालेखों (Inscriptions), ताम्रपत्रों (Copper Plates), मुद्राओं (Coins), भित्तिचित्रों (Folk Arts or Sculptures), शिल्पकलाओं (Architectures) व चट्टानों पर पाई गई परतों (Layers of Sediments) आदि मर्त्यसाक्ष्यों पर ही अधिक निर्भर रहते हैं। यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से पुरातन वास्तविकताओं की पुष्टि के लिए इन मर्त्य अवशेषों की भूमिकाएँ अत्यधिक निरापद ही मानी जा सकती हैं, तथापि निश्चित रूप से यह प्रमाणित नहीं किया जा सकता है कि मानवीय वृत्तियों के सभी पुरातन अवशेष काल के इन लम्बे अंतरालों तक अक्षुण्ण रह पाए हैं या फिर इन सभी को उत्खननों आदि के माध्यम से चिह्नित कर संरक्षित किया जा चुका है। वस्तुतः मानवीय जिज्ञासाओं की गत्यात्मकताओं के कारण सर्वेक्षणों व अनुसन्धानों की सतत प्रक्रियाओं का अविरल प्रवाह सदैव गतिमान रहता है और इन्हीं के परिणामस्वरूप मर्त्यसाक्ष्यों पर आधारित निष्कर्षों के स्वरूप भी नित्य नये आयामों के साथ उद्घाषित होते रहते हैं। वैचारिक परिमार्जनता की इन्हीं नियतियों के कारण ई.पू. 4004 की हास्यास्पद ज्यूडो-क्रिश्चियन अवधारणाओं की कोख से निकले आधुनिक इतिहासज्ञों के सीमित दृष्टिबोध के मानुषी सभ्यताओं के क्रमिक विकास को जिस परम्परागत साँचे में संकुचित करना चाहा, वैज्ञानिक अनुसंधानों से उद्घाटित हुए मानवी कालपरिमाण के आधारभूत तथ्यों ने उनके औचित्यों को अनेकानेक अवसरों पर प्रश्नांकित ही किया है। तंजानिया (Olduvai Gorge) के उत्खननों में पाए गए लाखों वर्ष पुराने मानवी जीवाश्म व फ्रांस के बैलोनेट गुफा (Vallonet cave) में पाए गए मानवीय उपयोगिता से सम्बन्धित दस लाख वर्ष पुराने औज़ारों के अति उत्कृष्ट स्वरूप या फिर सैंतालीस हज़ार वर्ष पुरानी रोडेशिया की ताम्रखदानों के अवशेष इन्हीं अन्वेषणों के कुछ प्रमाणित अंश रहे हैं। इन मर्त्यसाक्ष्यों के अतिरिक्त प्राग्युगीन परम्पराओं के जीवंत सूत्रों को बड़ी सहजता से आद्य पुरुषों द्वारा प्रसूत हुए कुलगोत्रों के अर्वाचीनीय प्रतिबिम्बों में भी अनुभूत किया जा सकता है– अत्रीय-आट्रीक-एट्रूस्कन, असुर-असीरियन, या असुर-अहुर-अहीर, यदु-ज्यू-जूदेव-जाडेजा या यादव-यहूदी, आंगिरस-आर्गिनोरिस-अंगोरियन, मय-मयांस, पौलत्स्य-पुलेसाती-पैलेस्टीनियन, काश्यप-कैस्पेनियन-कस्परोव व द्रविड़-ड्रूईड् आदि की सांस्कृति-शृंखलाएँ इन्हीं जीवन्त सूत्रों को इंगित करती हैं। प्राकृतिक विभीषिकाओं के क्रमानुसार उठापटकों से कई स्तरों पर चोटिल हुए पाश्चात्य के स्मृति-तंतुओं की क्षमताएँ अतीत के इन प्रगाढ़ सूत्रों को संजोकर एकत्रित रख पाने के असमर्थ हो गई थीं। इन परिणामजनित बिखरावों के फलस्वरूप अतीत के प्रति इनकी संवेद्यताएँ (Sensibilities) देशकाल के अनुरूप पल्लवित हुए अध्यासों (IIIusions) के सघन झाड़ों में ही उलझती चली गयीं। अंततः ज्यूइस एकालापता से सम्मोहित होकर यहाँ की ऐतिहासिक ग्रंथियाँ काल के एक निश्चित आवरण से आवृत्त हो गयीं। यद्यपि *Historica* नामक यूनानी दियासलाई द्वारा प्रज्ज्वलित की गई दीपशिखाएँ अतीत के कुछ परिदृश्यों को उजागर करने में सफल रहीं थीं, तथापि इन दीपों के मंद प्रकाश ज्यूडो-क्रिश्चियन अवधारणाओं के तमीय आवरण को पूर्णतः भेद पाने में असमर्थ ही रहे थे। किञ्चित् शैशवगत

संचेतनाओं की इन स्तरीय अनभिज्ञताओं के कारण की पूर्ववृत्तांत की अनबूझ पहेलियों से बचने हेतु हेरोडोटस के अनुगामियों को अंधकारयुग (Dark-Age) अनैतिहासिक (Nonhistoric) या फिर प्रागैतिहासिक (Pre-historic)-जैसे भ्रममूलक शब्दकवचों का आश्रय लेने के लिए विवश होना पड़ा था। वस्तुतः आधुनिक इतिहासज्ञों (Historians) द्वारा प्रयुक्त किए गए इन आंग्ल शब्दों को तात्पर्य यूनानी विद्वान हेरोडोटस की कृति *(Historica)* से प्रारंभ हुई पाश्चात्य की लेखन-परम्पराओं की परिधि में आए कालखण्डों से पूर्व के वृत्तातों से हो होता है, अतः प्राच्य के अद्यतन सन्दर्भों के लिए इनका प्रयोग अप्रासंगिक सिद्ध होता है। इस सत्यान्वेषी भावनाओं के विपरीत पाश्चात्यीय प्रवञ्चनाओं के अतिरेक में Pre-historic शब्द का हिंदी-रूपांतर प्रायः 'प्रागैतिहासिक' कहकर ही किया जाता है, जबकि अर्थभाव के अनुसार 'इतिहास' का शाब्दिक व नैसर्गिक आशय 'प्राग्कालीन घटनाओं' से ही सम्बन्धित होता है। इस प्रकार हिस्ट्री की पाश्चात्य श्रृंखलाओं से पूर्व के वृत्तातों के लिए व्यवहृत प्राच्य का 'प्रागैतिहासिक' सम्बोधन भाषागत दृष्टि से दोषपूर्ण ही माना जा सकता है। इतिहास को History का पर्यायवाची मानने की इन्हीं त्रृटिपूर्ण मानसिकताओं के कारण आधुनिक इतिहासज्ञों (Historians) की पश्यताएँ भारतीय ग्रंथों में वर्णित पूर्व-पुरुषों के अति पुरातन अस्तित्वों को दृक्क्षेप नहीं कर पाती हैं, सुतराँ इनकी वस्तुपरक प्राचीनता को स्वपोषित धुंध (Myth) से आवृत्त मानक निरर्थक या फिर Non- Historic (पौराणिक) ही घोषित कर दिया जाता है।

ईसाई व इस्लाम-जैसे नवोदित पंथों (Cults) की घर्षणात्मक (Intolerated) प्रतिद्वन्द्विता के लंबे उतार-चढ़ावों के उपरांत चौदहवीं शताब्दी के पुनर्जागरण-अभियानों (Renaissances), सोलहवीं शताब्दी के धर्मसुधार-आंदोलनों (Reformations) एवम् अठारहवीं शताब्दी के वाष्पचालित इंजनों के आविष्कारों से प्रतिफलित हुई औद्योगिक क्रान्तियों (Industrial Revolutions) के प्रत्युद्यमों ने यूरोप की वर्चस्ववादी अभिलिप्साओं को द्विगुणित कर दिया। इन्हीं उद्वेगों के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आई औपनिवेशिक विकरालताओं ने विश्व-मानसिकता को समुच्य रूप से पश्चिमी अवधारणाओं का दास बनाकर रख दिया। पाश्चात्य की इन्हीं प्रगल्भताओं के परिप्रेक्ष्य में किए गए पुरातत्त्वीय सर्वेक्षणों के आधार पर स्ट्रैबो, टॉयनबी, टॉलेमी, प्लीयनी, वूली, वेल्स, हल, स्मिथ, वर्न्स, राल्फ, ड्यूरेंट, चाईल्ड, लर्नर, मैक्डॉनल, कीथ, मैक्समूलर, मार्शल, फ्राडली इत्यादि मूर्धन्य इतिहासज्ञों की श्रृंखलाओं ने ई.पू. 3500 की सुमेरियन सभ्यता को ही ज्ञात मानवीय सामाजिकता (Zero hour of literate Society) का प्रारंभिक चरण माना (Sometime around 3500 BC the earliest known civilization in shape of Sumerians was emerged out of Neolithic Culture. Ref. World Civilizations, Vol.-A, Chapter I)। जबकि पृथ्वी पर मानवीय सभ्यताओं के विकास का क्रम अंचल-विशेष की परिस्थितियों के अनुरूप अनादिकाल से ही गतिमान है। सन् 1990 में जब अमेरिका की खोज की 500वीं जयन्ती मनाने पर यूरोप में विचार चल रहा था, तब अमेरिका मूल के इतिहासज्ञों की यह मार्मिक टिप्पणी कि 'उनके लिए यह उत्सव हो सकता है, किंतु हमारे लिए तो यह विषाद का ही क्षण होगा। कारण इस दिन से हमारी सदियों पुरानी सभ्यता को नष्ट करने का प्रयत्न प्रारम्भ हुआ था' (It may be a matter of celebrations for Europeans, but

for us it is a matter of mourning of because just is few years the Europeans destroyed our civilization de-veloped over several thousand of years.) स्वतः ही बहुत कुछ उजागर कर देती है। कालगत वास्तविकताओं को नेपथ्य में ढकेलते हुए अपने पूर्वाग्रहों के अनुरूप एकत्रित किए गए पुरातत्त्वीय साक्ष्यों के आधार पर काल के इसी स्वपोषित बिंदु से आगे बढ़ते हुए आधुनिक इतिहासज्ञों की टोलियों ने बेबीलोनियन व असीरियन आदि के क्रम में मिश्र की सभ्यता (Egyptians Civilization) को ई.पू. 3400, यूनान की सभ्यता (Greek Civilization) को ई.पू. 3000, हड़प्पा की सभ्यता (Indus Valley Civilization) को ई.पू. 2500, पारसिक सभ्यता (Chaldean Civilization) को ई.पू. 2000, यहूदियों की सभ्यता (Hebrew Civilization) को ई.पू. 1900, मध्य अमेरिका की सभ्यता (Mayan Civilization) को ई.पू 1500, चीन की सांस्कृतिक सभ्यता (Shang Dynasty) को ई.पू. 1400, अफ्रीका की सभ्यता (Kushitic Civilization) को ई.पू. 1000, प्राचीन इटली की सभ्यता (Etruscan Civilization) को ई.पू. 800 तथा रोमन सभ्यता (Roman Civilization) को ई.पू. 625 के अनुमानित कालखण्डों में निरूपित करते हुए मानव सभ्यता के प्रकारांतर विकास को बाइबिल (जेनेसिस) में उल्लिखित ई.पू. 4004 की सीमारेखा के अंदर रेखांकित करने का प्रयास किया। पश्चिम के इस जीरोआवर की मान्य धारणाओं के विपरीत फ्रांस स्थित लुसाक (Lussac) की गुफाओं में आठ से दस हज़ार वर्ष पूर्व उत्कीर्ण की गई आकर्षक वेशभूषावाली मानव-आकृतियों तथा मोरक्को में प्राप्त पंद्रह हजार वर्ष पुराने मानवी कंकाल के साक्ष्यों को पुरातन सभ्यताओं की एक कड़ी के रूप में उद्धृत किया जा सकता है। आल्प्स व कार्पेथियन पर्वताञ्चल के मध्य स्थित डेन्यूब नदी के डेल्टाई भाग पर पाए गए 8,000 वर्ष पुराने वृद्ध मानव के शीलीभूत (Frozen) शरीर पर किए गए अध्ययनों के परिप्रेक्ष्य में अमेरिकन शोधकर्त्री प्रो. मारिया जिमबुट्स ने भी यही प्रमाणित किया है कि सुमेरियन सभ्यता से भी हज़ारों वर्ष पूर्व अर्थात् ई.पू. 6500 के आसपास यूरोप के इस भाग में कार्पथोडेन्यूवियन नामक अति उन्नत सभ्यता विद्यमान रही थी (A Cultural entity namely as Carpatho-Danubian Civilization flourished in European heart land dated well before the Sumerian existence ie 6500 BC and even earlier to it – Maria Gimbutas. Prof. of UCLA), किंतु सावन के अंधे (Jaundiced Eye) की भाँति अपने परम्परागत मंतव्यों को यथावत् बनाए रखने की उत्कण्ठाओं में आधुनिक इतिहासज्ञों पर दूजा रंग किञ्चित् चढ़ ही नहीं पाता है, फलतः देशकाल के हिसाब से उद्घाटित किए गए अतीत के वस्तुपरक तथ्यों को येनकेन-प्रकारेण प्रचलित मान्यताओं के खद्योतीय चकाचौंध द्वारा उपेक्षित कर दिया जाता है।

सन् 1784 में भारत के बंग प्रांत में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के पश्चचात् संस्कृत-वाङ्मय का अंग्रेज़ी-भाषा में अनुवाद की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। वैचारिक भिन्नताओं के कारण आए अनुवादगत दोषों के उपरांत भी भारतीय चिन्तन से अभिभूत हुए पश्चिमी जगत् को ब्रह्माण्ड व मानवता से सम्बन्धित अपने आकलन ही बचकाने प्रतीत नहीं हुए बल्कि बाइबिल (जेनेसिस) के प्रति सहस्त्राब्दियों की उनकी आस्थाएँ भी डगमगाने लगीं। सर विलियम जोन्स ने

इसी आशंका को रेखांकित करते हुए सन् 1788 में यह लिखा कि 'Some intelligent and virtuous persons are inclined to doubt the authenticity of the accounts delivered by Moses in terms of Indian literatures. Thus, either the first eleven chapters of Genesis are true or the whole fabric of our national religion is false, a conclusion which nose of us, I trust, would wish to be drawn'. इस स्थिति से निज़ात पाने के लिए ईसाइयत के पुरोधाओं ने भारत के ऐतिहासिक स्वरूप को विकृत करने तथा उन्हें अपने अनुकूल पारिभाषित करने के उद्देश्य से मोनियर विलियम्स, अलबर्ट वैबर, मैक्समूलर, विन्सेंट स्मिथ-जैसे अनेकों विद्वानों की सेवाएँ लीं। पूर्वाग्रहों से ग्रसित इन विद्वानों को टोली ने बड़ी ही चतुराई से यहाँ की प्रतिष्ठित जाति (आर्य) को विदेशी आक्रांता घोषित करते हुए भारतीय ज्ञानविज्ञान के स्वर्णिम खण्ड यानी ऋग्वैदिक काल को ई.पू. 1500 के लगभग का ठहरा दिया। संयोग से यूरोप में श्रमिक क्रान्ति के पुरोधा रहे कार्ल मार्क्स (Karl Marx) ने भी सन् 1853 में भारतीय इतिहास के प्रति कुछ ऐसी ही टिप्पणी की। उसके अनुसार भारतीय समाज का अपना कोई इतिहास नहीं रहा था, बल्कि इसका सारा पुराना इतिहास इस पर आक्रमण करनेवाले विजेताओं की गाथाओं से भरा पड़ा है। (India, then could not escape being conquered, and the whole of her past history, if it be anything, is the history of the successive conquered she has undergone. Indian society has no history at all, at least no known history. What we call its history is but the history of the successive intruders who founded their empires on passive basis of that unresisting and unchanging society.)। यद्यपि भारतीय इतिहास के प्रति मार्क्स की यह धारणा ब्रिटिश दृष्टिकोणों के अनुकूल ही रही थी, तथापि वैचारिक अंतविरोधों के कारण औपनिवेशिक शासन काल तक नेपथ्य में रहे मार्क्स के क्रांतिकारी विचार स्वतंत्रता के बाद अपने को प्रगतिशील कहलानेवाले कुछ बुर्जुआ-विरोधी (Antibourgeois) बुद्धिजीवियों के प्रमुख शगल बनकर ही उभरे।

किञ्चित् यही सब कारण रहे कि 'भारत को मानवी सभ्यता की जननी' (Ref. *The Story of Civilization* by William Durant) मानने की अंतस् चेतना के उपरांत भी पश्चिमी इतिहासज्ञों व उनके भारतीय अनुयायियों के पक्षपाती दृष्टिबोधों ने त्रिवर्ग, आरण्यक, संहिता, ब्राह्मण-ग्रंथ, कल्पसूत्र, व्याकरण, रामायण, महाभारत, पुराण, शास्त्र, चरित आदि विविध कृतियों के माध्यम से सूचीबद्ध किए गए कालपरक इतिहास की भारतीय अभिव्यक्ति को इस धृष्ट लाञ्छना के साथ नकार दिया कि 'प्राचीन भारतीयों को इतिहास लिखना ही नहीं आता था' (Ancient Indians had no sense of History writing at all) और 'उनके साहित्य में वर्णित विवरणों की ऐतिहासिकताएँ प्रमाणित नहीं होती हैं' (Since none of Indian text are verified historically, it may generally be termed as 'Legendry' and are obviously stand as 'Mythical' —*History of Indian literature* by M. Winternitz) काट-छाँट की इन सुरुचिपूर्ण सजगताओं से रची गयी 'हिस्ट्री' का यह पश्चिमी दुर्ग, भारत के इलाहाबाद जनपद के जमुनीपुर (फूलपुर तहसील) व प्रतापगढ़ जनपद के महदहा, दमदमा (रानीगंज तहसील) तथा खम्भात की खाड़ी से हाल ही में प्राप्त हुए अतीत के कुछ वस्तुपरक साक्ष्यों के बारूद से प्रायः ध्वस्त होते प्रतीत होते हैं। विघटन संकेत प्रणाली

(Carbon Dating System) द्वारा किए गए परीक्षणों के अनुसार इलाहाबाद व प्रतापगढ़ जनपदों के इन पुरास्थलों से प्राप्त मानव शवाधान, गर्त-चूल्हे (Pit-hearths) व चाक, सिल-लोढ़े, कुल्हाडी, बसूली, खुरपी, टेदी, आदि उपकरण तथा घड़े, कटोरे, थाली आदि बरतन जहाँ ई.पू. 17000 से ई.पू. 7000 के सिद्ध हुए हैं, वहीं खम्भात की खाड़ी से प्राप्त हुए पुरातत्त्वीय अवशेषों का सम्बन्ध ई.पू. 7500 अस्तित्व में रही किसी मानवी सभ्यता से ही स्थापित होता है। पाश्चात्य के सीमित दृक्क्षेपों के सम्मोहन में फँसे आधुनिक इतिहासज्ञों (Historians) के लिए ई.पू. 4004 से भी पुरानी सभ्यता का यह रहस्योद्घाटन आश्चर्यमिश्रित रोमांच का विषय हो सकता है; परंतु प्राच्यविद्याओं के मर्मज्ञों के लिए ई.पू. 17000 या ई.पू.7500 की स्थितियाँ अतीत की एक अति लघु ईकाई ही प्रतीत होता हैं। चूंकि देशकाल के हिसाब से पाए गए मर्त्य साक्ष्यों की जाँच-पड़ताओं पर आधारित निष्कर्षों की तुलना में परिवर्धित संस्कृति के अंतस्थलों में छिपे पुराने गुणसूत्रों के जीवंत साक्ष्य अधिक परिनिष्ठित होते हैं, अतः प्राच्य स्रोतों को काल्पिनकता के दोषों (Mythical stigma) से मढ़ने की अपेक्षा इनके सार-सूत्रों के आधार पर ही काल के तथ्यात्मक क्रमों का वैज्ञानिक परीक्षण किया जाना अधिक व्यावहारिक रहेगा। खम्भात के आलोक में इतिहास की सम्यक् पवित्रता को स्थापित करने के लिए आधुनिक इतिहासज्ञों के दृष्टिबोध-सम्बन्धी आयतन का आनुपातिक विस्तार अब अपरिहार्य हो चुका है और इसके लिए पुराण सहित भारतीय वाङ्मय की भूमिकाएँ निर्बाध रूप से दूरवीक्षक यंत्र की भाँति उपयोगी सिद्ध हो सकती है। होमर की दंतकथाओं के आधार पर किए गए उत्खननों द्वारा जिस प्रकार प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् श्लीमान प्राचीन ट्राय नगर व टिरीस नामक राजप्रासाद के अवशेषों को ढूँढ़ निकालने में सफल रहे थे, ठीक उसी प्रकार के कटिबद्ध प्रयासों के द्वारा कोई जीवट पुरातत्त्ववेत्ता रामायण व महाभारत के प्रसंगों को भी विश्वपटल पर प्रमाणित करने में सफल हो सकेगा। नासा के सैटेलाइट कैमरों द्वारा ढूँढ़ा गया रामकालीन सेतु तथा नेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ़ ओशनोग्राफी के वैज्ञानिकों द्वारा पौराणिक द्वारका नगरी को ढूँढ़ने के प्रयास, इसी दिशा में बढ़ाए गए कदम का एक नमूना मात्र है। आशा है कि आनेवाली पीढ़िया कुछ इसी प्रकार के रचनात्मक प्रयासों द्वारा पुराण-वर्णित प्राचीन कड़ियों की प्रामाणिकताओं को सिद्ध करने में सफल हो सकेंगी। सही मायने में **उतिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत** (कठोपनिषद्, 1.3.14) के महती संकल्प द्वारा इस दिशा में किए जानेवाले निरपेक्ष प्रयासों से ही इतिहास अपने मंतव्य को प्राप्त करने में सफल हो पाएगा।

❖❖❖

इतिहासलेखन का औपनिवेशिक आख्यान

दिलीप केळकर*

भारतीय समाज के बारे में ऐसा कहा जाता है कि, 'हमने इतिहास से केवल एक बात सीखी है और वह है इतिहास से कुछ भी नहीं सीखा'। वर्तमान भारतीय समाज के अध्ययन से भी समझ में आता है कि इस बात में तथ्य सम्भव है। कुछ लोग अहंकारपूर्वक कहते हैं कि हम इतिहास सीखते नहीं, हम इतिहास का निर्माण करते हैं। ऐसे अतार्किक लोगों की ओर ध्यान नहीं देना ही ठीक है। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि जो इतिहास से सबक नहीं सीखते, उन्हें भविष्य में बारम्बार अपमानित होना पड़ता है। इतिहास हमारे समाज, संस्कृति और सभ्यता का निर्माता है। प्रत्येक समाज में साहित्य, लेखन, लोककथाएँ, बालगीत, लोकवाङ्मय, लोरीगीत आदि के माध्यम से इतिहास के उदात्त प्रसंगों को समाज में स्थापित करने की परम्परा एक सहज प्रक्रिया होती थी और अभी है। इसे जनसमान्य भी भली-भाँति समझता है। इसलिए वर्तमान स्कूली शिक्षा में यद्यपि अंग्रेज़ों द्वारा विकृत किए गए इतिहास का शिक्षण होता है लेकिन लोकसाहित्य, लोकगीत, बालगीत, लोरियाँ आदि अब भी भारत के गौरवपूर्ण इतिहास की गाथा ही गाते हैं। अंग्रेजों द्वारा लिखे गए भारतीय इतिहास की पार्श्वभूमि सामान्यतः हमारे इतिहास के शिक्षकों को भी विदित नहीं है। यह स्थिति केवल आँखें खोलनेवाली ही नहीं अपितु अपने वास्तविक इतिहास के लेखन की अनिवार्यता की प्रेरणा देनेवाली भी है।

अंग्रेज़ों के आने से पहले यूरोप में भारत का प्रभाव

अंग्रेज़ी राज भारत में आने से कुछ समय पहले 18वीं शती के उत्तरार्ध तक केवल इंग्लैण्ड ही नहीं, अपितु यूरोप के सभी देशों में भारत के प्रति, आर्य संस्कृति के प्रति, भारतीय परम्पराओं के प्रति, सामान्य भारतीय मनुष्य की नीतिमत्ता के प्रति अपार आदर था। भिन्न-भिन्न ढंग से अपनी संस्कृति को आर्यों से जोड़ने की होड़ यूरोप के फ्रांस, जर्मनी और अन्य सभी देशों में लगी थी। इसमें इंग्लैण्ड भी पीछे नहीं था। 1754 में वाल्तेयर ने लिखा है कि मानव जाति को प्रगति के लिए भारत से मार्गदर्शन लेना चाहिए। फ्रांस के बादशाह नेपोलियन का भारतप्रेम तो सर्वश्रुत ही था। हेगेल ने तो संस्कृत-भाषा के यूरोपीय देशों से हुए परिचय की तुलना एक नये द्वीपकल्प की खोज से की थी। जर्मनी ने जर्मन-भाषा के व्याकरण में सुधार कर उसे संस्कृत-भाषा के व्याकरण जैसा

---

* प्रसिद्ध शिक्षाविद् तथा पुनरुत्थान विद्यापीठ, अहमदाबाद से सम्बद्ध हैं।

बनाने का प्रयास किया। ऐसी स्थिति में अंग्रेज़ों का राज्य भारत में दृढ़ता की ओर बढ़ रहा था। भारतीय समाज के प्रति गौरव का भाव लेकर भारतीयों पर शासन नहीं किया जा सकता। अंग्रेज़ों का मानना था कि भारतीय की संस्कृति, रहन-सहन और मानसिकता को अंग्रेज़ों की अनुगामिनी बनाए बिना भारतवर्ष पर शासन करना सम्भव नहीं होगा। भारत में ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधिकारी चार्ल्स ग्रेट मानता था कि भारत को ईसाई बनाकर यहाँ अंग्रेज़ी शासन को चिरंतन काल तक स्थिर नहीं किया जा सकता है। भारत का ईसाईकरण करने की आकांक्षा रखनेवाले ईसाई आंदोलन (evangelical society) के कार्यकर्ता विल्बर फोर्स, जेम्स स्टुअर्ट मिल आदि से भी यही मानते थे। सन् 1790 में चार्ल्स ग्रेट 23 वर्षों तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी का कार्यकाल पूरा कर इंग्लैण्ड लौटा। लौटकर उसने लगातार अभियान चलाया कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत में पादरी (ईसाई मत के वेतनभोगी प्रचारक) भेजे। इसके लिए उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के संचालकों को तैयार कर लिया। कम्पनी की ओर से भारत के ईसाईकरण का प्रस्ताव 1792 की इंग्लैड की चार्टर्ड डिबेट में प्रस्तुत किया गया। राष्ट्रीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नीति व रणनीति पर चर्चा करने के लिए ब्रिटिश पार्लियामेंट में हर 20 वर्ष में एक बार चार्टर्ड डिबेट का आयोजन किया जाता था। 1722 से पूर्व भारत में अध्ययन के लिए आए, प्रसिद्ध अंग्रेज़ी इतिहासकार विलियम रॉबर्ट्सन के लिखे और 1792 में प्रकाशित 'हिस्टॉरिकल डिस्क्विजिशन्स ऑन इण्डिया' पुस्तक में दी गई जानकारी के आधार पर भारत में पादरी भेजने का प्रस्ताव ठुकरा दिया गया। विलियम रॉबर्ट्सन की यह पुस्तक उसके ही जैसे भारत अध्ययन के लिए आए कुछ इतिहास-शोधार्थियों द्वारा प्रस्तुत शोध-प्रबन्धों पर आधारित थी। भारत का गवर्नर जनरल वरेन हेस्टिंग्स (1772-1785) भी भारतीय संस्कृति, संस्कृत-भाषा आदि का प्रशंसक था। उसने इनके प्रचार-प्रसार के लिए कलकत्ते में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। इसके बाद ब्रिटिश भारत का वायसरॉय लॉर्ड मिन्टो (1905-1910) भी मानता था कि भारतीय साहित्य का अध्ययन पाश्चात्य राष्ट्रों के लिए हितकारी होगा।[1]

सन् 1792 में प्रस्ताव के ठुकराए जाने के बाद भी चार्ल्स ग्रेट निराश नहीं हुआ। वह 1793 में कुछ पादरियों को अवैध रूप से भारत भेजने में सफल हो गया। इन पादरियों द्वारा भेजी गई झूठी और अतिरञ्जित जानकारी के आधार पर जेम्स स्टुअर्ट मिल ने 'हिस्ट्री ऑफ़ ब्रिटिश इण्डिया' नामक ग्रंथ दो खण्डों में प्रकाशित किया। जेम्स स्टुअर्ट मिल भारत कभी नहीं आया, लेकिन अपनी इस अज्ञानतापूर्ण पुस्तक के आधार पर वह ब्रिटिश पार्लियामेंट में भारत मामलों का सलाहकार बन गया। इसी बीच चार्ल्स ग्रेट ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ़ डायरेक्टर्स का चेयरमैन बन गया। उसने आगामी चार्टर्ड डिबेट से पहले जेम्स मिल के लिखे इतिहास के आधार पर इंग्लैण्ड में भारत की छवि खराब करने के लिए अभियान चलाया। 1812 की चार्टर्ड डिबेट में जेम्स मिल के झूठे और अतिरञ्जित इतिहास को ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा भारत के बारे में अधिकृत सूचना के रूप में प्रस्तुत किया गया। 1812 के चार्टर्ड डिबेट में प्रस्तुत इस ग़लत और भ्रामक जानकारी का लॉर्ड हेस्टिंग्स ने विरोध भी जताया था, लेकिन यह विषय ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति के हित में होने के कारण प्रस्ताव के तौर पर स्वीकार किया गया। इस प्रकार ईस्ट इण्डिया कम्पनी की और से भारत के भद्रलोक को अपमानित कर उसकी विद्वत्ता और गरिमा

के हनन के लिए पूरी योजना तैयार की गयी। इसके साथ ही भारत में ईसाइयत के प्रचार-प्रसार के लिए पादरी भेजने का प्रस्ताव पारित किया गया। इस प्रकार भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना और उसे चिरंतन काल तक स्थायी बनाने के लिए भारत का ईसाइकरण शुरू हो गया। सन् 1857 तक यह निर्बाध रूप से चलता रहा। 1857 के युद्ध के बाद इस नीति को बदला गया था। इसकी जानकारी 1857 के स्वातन्त्र्य समर का इतिहास जाननेवाले सभी को है।

सिखों के इतिहासलेखन की कथा तो इस से भी अधिक गहरे षड्यंत्र की कथा है। मैकॉलिफ (M.A. Macauliffe) नाम का एक अंग्रेज़ ईस्ट इण्डिया कम्पनी का अधिकारी बनकर पंजाब में आया था। उसने एक उद्देश्य के साथ सिख पंथ में दीक्षा ली और मैकॉलिफ सिंह बन गया। यदि विजेता किसी पराजित समाज की संस्कृति और उसके दर्शन को अपनाता है तो यह बात पराजित समाज के लिए गौरवपूर्ण और अत्यन्त आनन्द देनेवाली बात बन जाती है। जब एक गोरी चमड़ीवाला अंग्रेज़ सिख बना तो यह बात सिखों के लिए आश्चर्यजनक थी। इसके परिणामस्वरूप मैकॉलिफ सिंह सिखों का सिरमौर बन गया। इसके साथ ही जो पंथ हिंदू-धर्म के रक्षार्थ खड़ा किया गया था, वह अंग्रेज़ों की बदौलत एक अलग धर्म के तौर पर प्रस्तुत हो गया।

सकल जगत में खालसा पंथ गाजे।
जगे धर्म हिंदू सकल भंड भाजे ॥

–दसवें सिख गुरु गोविद सिंह जी

गुरु गोविन्द सिंह जी ने खालसा (सिख) पंथ की स्थापना ही हिंदू-धर्म की रक्षा के लिए की थी, यह बात उनके उपर्युक्त दोहे से स्पष्ट है। किन्तु सिखों (केशधारी हिंदू) और शेष समाज में फूट डालने के लिए मैकॉलिफ सिंह ने सिखों का झूठा इतिहास लिख डाला। 1990 के दशक में पंजाब में चले खालिस्तान की अलगाववादी मांग के बीज मैकॉलिफ सिंह के लिखे सिखों के इतिहास में ही है। कम्पनी की नौकरी का कार्यकाल समाप्त होते ही मैकॉलिफ सिंह दाढ़ी-मूँछें मुंडवाकर फिर ईसाई बनकर इंग्लैण्ड चला गया। किन्तु हमारी गुलामी की मानसिकता इतनी गहरी है कि हम अंग्रेज़ों के षड्यंत्र को आज तक समझ नहीं पाए हैं। मैकॉलिफ सिंह का लिखा सिखों का इतिहास (*The Sikh Religion*, 6 Vols.) भी सिखों का प्रामाणिक सन्दर्भ इतिहास माना जाता है। इस इतिहास से भिन्न कुछ लिखने पर हमारे तथाकथित इतिहासकारों की फौज़ झूठे तर्कों के साथ मैदान में आ जाती है और तथ्यों को जांचे बगैर ही उसके विरोध में खड़ी हो जाती है।

ऐसी आशा थी कि स्वाधीनता के बाद इसमें परिवर्तन होगा, लेकिन यूरोपीय सोच से प्रभावित जवाहरलाल नेहरू का नेतृत्व भारत को मिला। भारतीयता के सम्बन्ध में उनकी समझ बहुत कम और ग़लत थी। इसीलिए भारत के राष्ट्रपुरुष शिवाजी को उन्होंने 'राह भटका देशभक्त' (मिसगायडेड पैट्रियट) कहा। गाँधीजी की भारतीयता के नेहरू कट्टर विरोधी थे। काँग्रेस में घुसे कम्युनिस्टों के कारनामों को वह समझ नहीं सकते थे। इतिहासलेखन की ज़िम्मेदारी स्वाधीन भारत में नेहरू ने जिन्हें सौंपी, वे सब विद्वान् थे, लेकिन कट्टर कम्युनिस्ट थे। कम्युनिस्टों का इतिहास भारतीयता के विरुद्ध रहा है। उन्हें देश के सत्य इतिहास के लेखन में और भारतीय आदर्शों की पुनर्प्रतिष्ठा में कोई रुचि नहीं थी, वह आज भी स्पष्ट रूप से नज़र आती है। इस

कम्युनिस्ट गुट ने जितना भी इतिहास लिखा, उसके कारण हमारे बच्चों की इतिहास पढ़ने में रुचि ख़त्म हो गयी। पूरा इतिहास हिंदू समाज के बच्चों के मन में हीनताबोध निर्माण करने के लिए लिखा गया। इतिहासलेखन, अध्ययन और अध्यापन की इनकी दृष्टि तो जेम्स स्टुअर्ट मिल की ही रही है।

जब तक शेर इतिहास खुद नहीं लिखेंगे, इतिहास शिकारी की भूमिका से ही लिखा जाएगा। यही भारतीय इतिहासलेखन में भी हुआ। भारत के स्वर्णयुग, गुप्तकाल का वर्णन चीनी यात्रियों ने अपने यात्रा-वृत्तांत में किया, उसे अंग्रेज़ भी नकार नहीं सके, लेकिन हमारे इतिहास विभाग ने एक सर्कुलर निकालकर आदेश दिया कि गुप्तकाल को स्वर्ण युग नहीं माना जा सकता है। तथाकथित इतिहासकारों (छद्म कम्युनिस्टों) ने 'भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद्' नामक इस सर्वोच्च संस्था पर लगभग 50 वर्षों तक कब्ज़ा जमाए रखा। इन्हें 1998 में बर्ख़ास्त किया गया जा सका। अरुण शौरी की पुस्तक 'एमिनेंट हिस्टोरियन्स : देयर टेक्नोलॉजी, देयर लाइन एण्ड देयर फ्रॉड्स' में सबूतों के साथ इरफ़ान हबीब, रोमिला थापर, जगदीशचन्द्र आदि जैसे 40-50 तथाकथित इतिहासकारों के कारनामों की जानकारी मिलती है। इन तथाकथित इतिहासकारों ने सरकारी तिजोरी को लाखों रुपये का चूना कैसे लगाया, इसके आँकड़े भी इस पुस्तक में दिए हैं। इस तरह स्वाधीनता से पहले अंग्रेज़ी और स्वाधीनता के उपरांत कम्युनिस्ट ऐसी पाश्चात्य भूमिकाओं से ही हमारे इतिहास की प्रस्तुति हुई है।

भारतीय समाज की पीढ़ियों को अंग्रेज़ीदां बना दिया जाए, ऐसा अंग्रेज़ों का प्रयास था और उसी के अनुरूप इतिहास का लेखन उन्होंने करवाया। हम अपने बच्चों को कैसा बनाना चाहते हैं, यह हमें सोचना होगा और इस सोच के अनुसार इतिहास का पुनःलेखन हमें करना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि हम झूठा इतिहास लिखें। इतिहास के विषय में भारतीय मान्यता है **ना मूलं लिख्यते किञ्चित्**। इसलिए जो वास्तव में घटित हुआ है, उसकी भारतीय दृष्टिकोण से मीमांसा करते हुए हमें अपना इतिहास फिर से लिखना होगा। ऐसे इतिहास को पढ़कर ही हमारे बच्चे वास्तविक अर्थों में आर्य बनेंगे और विश्व को आर्यत्व की सीख देंगे। **वसुधैव कुटुम्बकम्** के अर्थ समझाएँगे।

इतिहास-दृष्टि और जीवन-दृष्टि

किसी भी समाज का जीने का एक तरीका होता है। इस तरीके को उस समाज की जीवनशैली कहा जाता है। यह जीवनशैली उस समाज की विविध मान्यताओं के आधार पर बनती है। इन मान्यताओं को उस समाज की जीवनदृष्टि कहा जाता है। इस जीवनदृष्टि के आधार पर ही वह समाज अपनी भाषा, कला, साहित्य, न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विविध सामाजिक शास्त्रों की और भौतिक, रसायन, वनस्पति आदि भौतिकशास्त्रों का और राज्यव्यवस्था, न्यायव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, आदि विभिन्न व्यवस्थाओं का निर्माण करता है। इस दृष्टि से साहित्य भी निर्माण करता है। किसी भी समाज का इतिहास उस समाज के साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है। हम भारतीय हैं। हमारी जीवन-दृष्टि अंग्रेज़ों से भिन्न है और श्रेष्ठ भी है। यह हमने पूर्व अध्यायों में देखा है। इसीलिए अपनी भूमिका से हमारे इतिहास के पुनर्लेखन का काम कुशलता से और

प्रचण्ड गति से करने की आवश्यकता है।

भारतीय इतिहास लेखन, अध्ययन और अध्यापन का उद्देश्य

भारतीय विचारों के अनुसार मानव जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। शिक्षा का उद्देश्य भी इसीलिए **सा विद्या या विमुक्तये** अर्थात् मोक्ष ही है ऐसा, कहा गया है। इच्छाओं को और इच्छापूर्ति के प्रयासों को धर्मानुकूल रखते हुए मोक्ष की ओर बढ़ने की प्रक्रिया का विकास किया गया। पुत्रेषणा (संतानप्राप्ति), वित्तेषणा (धनप्राप्ति) और लोकेषणा (समाज में प्रतिष्ठा)– ये तीन इच्छाएँ तो सभी की होती है। वहीं, श्रेष्ठ दैवीय गुण सम्पदायुक्त संतान को जन्म देना, उसके लिए अपना जीवन ढालना, मन को संयम में रखना, प्रामाणिक व्यवहार व उद्योग से धन कमाना, अपने सच्चे सर्वहितकारी स्वभाव व व्यवहार से लोगों के मन जीतना, धर्मानुकूल अर्थ और काम रखते हुए मोक्ष की ओर बढ़ना ही मानव के लिए वास्तविक भारतीय आदर्श है।

शिक्षा के उद्देश्य से इतिहासलेखन, अध्ययन और अध्यापन का उद्देश्य भिन्न नहीं हो सकता। इसलिए इतिहास की भारतीय व्याख्या कही गई–

धर्मार्थकाममोक्षानामुपदेशसमन्वितम्।
पुरावृत्त कथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते॥[2]

अर्थ और काम को धर्मानुकूल रखते हुए मोक्ष की ओर बढ़ने के लिए जो प्रत्यक्ष में हो गए हैं, ऐसे प्रसंगों के आधार पर रोचक-रञ्जक अर्थात् कथा के रूप में की गई प्रस्तुति ही इतिहास है।

इसका अर्थ है कि इतिहास की प्रस्तुति समाज को चराचर के साथ एकात्मता की भावना और व्यवहार की दृष्टि से अग्रसर करने के लिए ही करनी होगी। जिस इतिहास की प्रस्तुति से समाज के घटक के साथ एकात्मता की भावना को हानि होती हो, चराचर के साथ आत्मीयता को ठेस पहुँचती हो, ऐसे इतिहास की प्रस्तुति वर्जित होगी। यह अत्यंत संक्षेप में भारतीय इतिहास-दृष्टि है। इस दृष्टि पर आधारित इतिहास के चिन्तन, मनन, विश्लेषण को वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अब प्रस्तुत करने का हम प्रयास करेंगे। निम्न बिन्दुओं का विचार भी लाभदायी होगा :

- भारतीय समाज अत्यंत प्राचीन समाज है। इसलिए इसके इतिहास का कालखण्ड भी बहुत दीर्घ है।
- भारतीय समाज उत्थान और पतन के कई दौरों से गुजरा है। फिर भी हमने अपना स्वत्व नहीं खोया है। हममें कुछ है जिसने हमें कालयजी बनाया है।
- जब समाज के घटकों को मिलाकर हम एक समाज हैं। हमारी जीवनदृष्टि और जीवनशैली को स्थिर बनाए रखने के लिए इतिहास प्रस्तुति की औपचारिक आवश्यकता निर्मित होती है।
- डार्विन के विकासवाद की कल्पना अभी भी कोरी कल्पना ही है। जो विजयी हैं, अधिक विकसित हैं और जो अधिक बलवान् हैं, उनका इतिहास अधिक पुराना होगा, यह सोचना भी ठीक नहीं है।

- हमें यूरोप के इतिहास से नहीं, अपितु अपने इतिहास से मार्गदर्शन लेना चाहिए। तब वर्तमान में चल रहा यूरोप का अंधानुकरण रुकेगा।
- इस दृष्टि पर आधारित इतिहास के चिन्तन, मनन, विश्लेषण को वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अब प्रस्तुत करने का हम प्रयास करेंगे।

भारतीय समाज की प्राचीनता

भारतीय समाज और इसलिए भारतीय इतिहास की प्राचीनता के बारे में विभिन्न विचार प्रस्तुत किए गए है। इनके कारण संभ्रम निर्माण हुआ है। यूरोप के वर्तमान समाजों का इतिहास अरस्तू (अरिस्टोटल), अफलातून (प्लेटो) आदि से पहले का नहीं है। अर्थात् मुश्किल से ढाई से तीन हज़ार वर्ष पुराना ही है। विजयी जातियाँ विकसित होती हैं, ऐसा भ्रम यूरोपीय देशों ने विकासवाद के नाम पर फैलाया है। इस कारण यूरोप से पुराना भारत का इतिहास नहीं हो सकता। ऐसा अंग्रेज़ों ने मान लिया। उसके आधार पर उन्होंने भारत के प्रदीर्घ इतिहास को ठूँस-ठूँसकर इस काल में बिठाने को प्रयास किया। भारत का इतिहास गुप्तकाल से प्रारम्भ हुआ, ऐसा मान लिया गया। आगे जाकर मोहन-जो-दरो, हड़प्पा के अवशेष मिले। तब यह ध्यान में आया कि ऐसा विकसित समाज इससे अधिक पुराना होगा। तब वेदकाल को ईसा से 3000 वर्ष पूर्व का कह दिया गया। अब तो भीमबेटका-जैसे स्थानों पर विकसित संस्कृति के चिह्न मिलने से यह काल 10-12 हज़ार वर्ष तक पीछे गया है। लेकिन फिर भी भारतीय इतिहास इससे कितना पुराना है, इस बारे में अभी भी संभ्रम ही है। इस संभ्रम के कारण पाश्चात्य पुरातत्त्ववेत्ता हमारी मान्यता को स्वीकृति देंगे या नहीं, इस आशंका है। इस विषय में निम्न कुछ बातें विचारणीय हैं :

- जब समाज के घटकों को ऐसा लगने लगता है कि हम एक समाज हैं, हमारी जीवनदृष्टि और जीवनशैली को टिकाए रखना आवश्यक है, तब इतिहास की आवश्यकता होती है और इतिहास के निर्माण का प्रारंभ होता है।
- डार्विन के विकासवाद की कल्पना अभी भी कोरी कल्पना ही है। जो विजयी है, वह अधिक विकसित है और जो अधिक बलवान् है, विजेता है, उसका इतिहास अधिक पुराना होगा, यह सोचना भी ठीक नहीं है।
- यूरोप के इतिहास से अधिक हमें अपने इतिहास से मार्गदर्शन लेना चाहिये। तब जाकर वर्तमान में चल रहा यूरोप का अंधानुकरण रुकेगा।
- तथ्य तो वही रहते हैं, लेकिन उनसे लेने की प्रेरणा और सीखने के पाठ भिन्न हो सकते हैं।
- भारतीय समाज अर्थात् राष्ट्र अत्यंत प्राचीन है। जिस समाज का इतिहास मुश्किल से 2.5-3 हजार वर्ष पुराना है, उसकी ऐतिहासिकता के मापदण्ड उस राष्ट्र से भिन्न होंगे, जिसका इतिहास लाखों वर्षों का है।

भारतीय समाज का कालजयी सातत्य :

पृथ्वी की तीन गतियाँ हैं। सामान्यता परस्पर दो गतियों की जानकारी सबको होती है। अपने अक्ष को केन्द्र में रखकर घूमने की एक गति के कारण पृथ्वी पर दिन व रात होते हैं। सूर्य को परिक्रमा

करने की दूसरी गति के कारण ऋतु और वर्ष का चक्र चलता है। किन्तु पृथ्वी की एक और गति भी है। पृथ्वी का अक्ष सूर्य की दिशा से लम्बरूप नहीं है। वह थोड़ा झुका हुआ है। इस अक्ष की उलटे शंकू के आकार में घूमने की पृथ्वी की तीसरी गति है। इसमें दक्षिण ध्रुव तो स्थिर रहता है। उत्तर ध्रुव शंकू के आधार के वृत्त के ऊपर घूमता है। यह 26,250 वर्षों का चक्र है। इसमें उत्तर ध्रुव एक बार सूर्य के पास आता है और लगभग 13,125 वर्षों के बाद वह सूर्य से अधिकतम दूरी पर चला जाता है। जब उत्तर ध्रुव सूर्य के पास जाता है तो उत्तर ध्रुव की सब बर्फ पिघल जाती है और पृथ्वी जलमय हो जाती है। इसे हमारे पूर्वजों ने जलप्रलय कहा है और जब उत्तर ध्रुव सूर्य से अधिकतम दूरी पर जाता है, तो उत्तर ध्रुव पर ठण्ढ का प्रमाण पराकोटी का हो जाता है। इसे हिमप्रलय कहा जाता है। इन दोनों की प्रलयों की स्थिति में हिमालय भारतीय जीवन का संरक्षण करता है। जलप्रलय के काल में हिमालय की ऊँचाई के कारण व हिमप्रलय के समय उत्तर की ओर से आनेवाले बर्फीली हवाओं को रोककर। इन दोनों प्रसंगों में हिमालय की तराई वाला भारत का हिस्सा छोड़ अन्य सभी स्थानों पर मानव जीवन नष्ट हो जाता है। किन्तु भारतीय समाज का सातत्य खण्डित नहीं होता। इसलिए हम जब कहते हैं कि हमारा समाजजीवन लाखों वर्ष पुराना है, तो हम कोई अतिशयोक्ति नहीं करते। हमारी मान्यता है की सत्ययुग का प्रारंभ 43,20,000 वर्ष पहले हुआ था। भारतीय समाज का सातत्य अति प्राचीन होने की पुष्टि ही पृथ्वि की तीसरी गति के विश्लेषण से होती है। ऐतिहासिकता के मापदण्ड, लेखन की पद्धति और भारतीय दृष्टि इंग्लैण्ड का इतिहास मुश्किल से 800-1000 वर्षों का है। इससे पहले वहाँ गिरोहों की संस्कृति थी। सामाजिक परम्पराओं का सातत्य नहीं था। इसलिए इतिहासलेखन की आवश्यकता भी नहीं थी। इंग्लैण्ड के इस मुश्किल से 800-1000 वर्षों के इतिहास पर अब-तक 10,000 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इन पुस्तकों में भी कई स्थानों पर विवाद है। कोई घटना हेनरी द्वितीय के काल में घटी थी या हेनरी तृतीय के काल में, ऐसा संभ्रम है। यह स्वाभाविक भी है।

पाश्चात्य ऐतिहासिकता के मापदण्ड व उनकी इतिहासलेखन-पद्धति उनके इतिहास के कालखण्ड की दृष्टि से शायद योग्य भी होगी, लेकिन भारतीय इतिहास जो इंग्लैण्ड के इतिहास से कई गुना अधिक है, उसके लिये योग्य नहीं हो सकती। इंग्लैण्ड से 10 गुना बड़ा भूभाग, 10 गुनी अधिक जनसंख्या और एक ही समय एक ही नाम के कई राजा हो सकते हैं, ऐसे भारत का इतिहास को इंग्लैण्ड के इतिहास की पद्धति से अर्थात् कालक्रम के अनुसार लिखना सम्भव नहीं है। और भारतीय इतिहास दृष्टि के अनुसार आवश्यक भी नहीं है। भारतीय इतिहासलेखन की पद्धति का स्वरूप निम्न कुछ बिन्दुओं के माध्यम से हम समझ सकेंगे।

- धर्मानुकूल अर्थ और काम को रख मोक्ष की ओर बढ़ने के लिये मार्गदर्शन महत्त्वपूर्ण है, कालानुक्रम नहीं।
- औरंगजेब के इतिहास में औरंगजेब के नहाने का कोई वर्णन नहीं लिखा मिलता। इसका अर्थ यह नहीं कि औरंगजेब नहाता नहीं था। अन्य बातों की तुलना में नहाना यह इतनी महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी, कि उसे इतिहास में लिखा जाए। इसी तरह भारतीय इतिहास इतने

लम्बे कालखण्ड का इतिहास है कि उसे अंग्रेज़ी पद्धति से कालक्रम के अनुसार लिखना सम्भव नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। प्रदीर्घ काल के कारण इतिहास लिखने की भारतीय पद्धति में समाजजीवन को मोड़ देनेवाली महत्त्वपूर्ण घटनाओं का ही समावेश हो सकता है। जो महत्त्वपूर्ण नहीं है, उसे लिखने से तो काग़ज़ और समय ही बिगड़ेगा।

- भारत की जनसंख्या, भारत का भौगोलिक विस्तार और भारत में रहे छोटे-छोटे राज्यों का अंग्रेज़ी पद्धति से इतिहास लिखना तो अंग्रेज़ों को भी सम्भव नहीं होगा। एक ही समय एक ही नाम के राजा शायद 2-3 राज्यों में राज करते हों, तो उनके इतिहासलेखन में कितना संभ्रम निर्माण होगा, कोई भी कल्पना कर सकता है। जैसे महाभारत में वासुदेव कृष्ण दो थे। नकली वासुदेव कृष्ण का असली कृष्ण ने सुदर्शन चक्र से सिर काटा था।
- **निचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण** का मथित अर्थ है प्रकृति की तरह ही इतिहास भी चक्रिय पद्धति से घटना रहता है। उत्पत्ति, स्थिति और लय का चक्र चलता रहता है। हर युग में चतुर्युग हुआ करते हैं। कलियुग में भी जो श्रेष्ठ समय होगा, उसे कलियुग का सत्ययुग कहा जाएगा। समाज के उत्थान और पतन में किस घटना-चक्र से प्रेरणा मिलती है, वह महत्त्वपूर्ण है। वह घटना किस समय चक्र की है, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है।
- इतिहास यह कथारूप में पढ़ाने का विषय है, चॉक और श्यामपट्ट से नहीं।
- बच्चों के लिंगभेद की दृष्टि से लड़के और लड़कियों को पढ़ाने के इतिहास में और लड़कों को पढ़ाने के इतिहास में कुछ अन्तर होगा ही। लड़कियाँ अच्छी बहनें, अच्छी माताएँ, अच्छी पत्नियाँ बनें, इस ढंग से लड़कियों के लिए इतिहास पढ़ाया जायेगा। जबकि अच्छे बेटे, अच्छे भाई, अच्छे पिता बनने के लिए लड़कों के लिए इतिहास की प्रस्तुति की जाएगी।
- घरों के लिए अच्छे माता-पिता, समाज के लिए अच्छे समाजघटक, देश के लिए देशभक्त और विश्व के लिए अच्छे मानव बनाने की दृष्टि से इतिहास की प्रस्तुति और अध्यापन करना होगी।
- शिशु और बाल अवस्थाएँ संस्कारक्षम आयु की होती हैं। शिक्षाशास्त्र के अनुसार छोटी आयु में पूरी तरह से रोचक-रञ्जक कथाओं के माध्यम से इतिहास पढ़ाना चाहिए। शिशु-अवस्था तक तो लोरियाँ-बालगीतों का उपयोग करना चाहिए। बाल आयु के बच्चों के लिये शौर्य की, विजय की, त्याग की, तपस्या की कथाएँ ही बतानी चाहिये। बढ़ती आयु के साथ आगे धीरे-धीरे गम्भीर कथाएँ बतानी चाहिये।
- अविचार का उदात्तीकरण करनेवाली कथाएँ कच्ची आयु में नहीं बतानी चाहिये। जैसे पृथ्वीराज चौहान द्वारा गौरी को बार-बार क्षमा करने की कथा या छत्रपति शिवाजी के सरसेनापति प्रतापराव गुर्जर द्वारा अविचार से अपने सात सरदारों के साथ किया अविचारी बलिदान।
- पाश्चात्य समाजजीवन पर शासन का बहुत गहरा प्रभाव होता है। इसलिए वर्तमान में हमें इतिहास पढ़ाया जाता है, वह भारत का राजकीय इतिहास होता है; भूगोल पढ़ाया जाता है, वह भारत का राजकीय भूगोल होता है; अर्थशास्त्र पढ़ाया जाता है, वह राजकीय अर्थशास्त्र (पॉलिटिकल इकोनॉमी) होता है। भारतीय इतिहासलेखन में शास्त्र जीवन के सभी

पहलुओं के इतिहास का समावेश होगा। राजकीय, कला, संस्कार, साहित्य, सामाजिक शास्त्र, भौतिकशास्त्र आदि सभी का समावेश हमारे इतिहास में होगा। भारतीय जीवन में धर्म सर्वोपरि होता है। इसलिए धर्माचरण सिखानेवाला इतिहास हो।

- इतिहास की प्रस्तुति स्वाधीनता और स्वतन्त्रता के अर्थों का अन्तर ध्यान में रखकर करनी होगी। वर्तमान सभी व्यवस्थाएँ (तंत्र) भारत में अंग्रेज़ों की देन हैं। हमें अपना समाज, अपनी संस्कृति अपने समाधन, अपनी शक्तियाँ, अपनी श्रेष्ठ परम्पराएँ, अपना जीवनलक्ष्य आदि विभिन्न बातों को ध्यान में रखकर अपने समाज के और चराचर के हित में व्यवस्थाएँ निर्माण करने की प्रेरणा इतिहास से मिलनी चाहिये।
- भारत की सीमाओं का संकुचन क्यों हुआ और होता ही जा रहा है? देश के जिस हिस्से में हिंदू अल्पसंख्यक, असंगठित, दुर्बल हुए, देश का वह हिस्सा हमारे भूगोल में नहीं रहा। इसलिए आगे देश के किसी भी हिस्से में हिंदू अल्पसंख्यक, असंगठित, और दुर्बल नहीं रहें। यह सबक सिखानेवाला इतिहास हमें लिखना होगा।
- हिंदुस्थान 1947 से भी पहले से, वेदकाल से एक राष्ट्र रहा है।
- सामान्य आदमी की ग़लतियों का नुकसान उसके घरवालों को या थोड़े-से लोगों को होता है। किन्तु देश का नेता जब ग़लती करता है तो देश और समाज का तात्कालिक ही नहीं कई पीढ़ियों को नुकसान होता है। जैसे पृथ्वीराज चौहान, जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री आदि। इसलिए नेता का चुनाव बहुत सावधानी से करना चाहिए। ऐसा चुनाव करने के उपरांत भी सदैव चौकन्ने रहना चाहिये।
- स्वाधीनता की लड़ाई में अहिंसक आंदोलन का लक्षणीय योगदान है। किन्तु इसके साथ क्रांतिकारियों के प्रयास, आज़ाद हिंद सेना का पराक्रम, भारतीय सेना का विद्रोह आदि बातें भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय सेना अंग्रेज़ों के प्रति एकनिष्ठ नहीं रही थी, इसलिये अंग्रेजों को भारत छोड़ना पड़ा, यह वास्तविकता है। इसे हम समझें। अहिंसा के आंदोलन तो स्वाधीन भारत में भी अक्सर निष्प्रभ होते हम आज भी देख रहे हैं।
- इतिहास के कालखण्ड की दीर्घता के कारण हमारे इतिहासलेखन में वही घटनाएँ प्रस्तुत की जाएँगी जिनके कारण समाजजीवन में महत्त्वपूर्ण मोड़ आया होगा। इसीलिये अंग्रेज़पूर्व भारत में प्राथमिक स्तर पर इतिहास के रूप में रामायण व महाभारत ही मुख्यतः पढ़ाए जाते थे।
- **ना मूलं लिख्यते किञ्चित्**– यही हमारे इतिहासलेखन का आधार रहना चाहिए।
- इतिहास केवल राजाओं का नहीं होता। इतिहास जीवन का होता है, जीवन के हर पहलू का होता है। जीवन के प्रत्येक पहलू के इतिहास के अध्ययन-अध्यापन और लेखन से मनुष्य मोक्षगामी बने, ऐसी इतिहास की प्रस्तुति होनी चाहिये।
- अरुण-तरुण अवस्था के बच्चों को इतिहास पढ़ाने के लिये लोककथा, लोकनाट्य, स्फूर्तिगीत, समूहगीत, ग्रंथ, ललितकथाएँ, शौर्यगीत आदि माध्यमों का भी उपयोग किया जा सकता है।
- गौरवशाली घटनाओं से प्रेरणा का इतिहास तो सभी आयु के बच्चों के लिए आवश्यक है।

लेकिन पराभव का इतिहास छोटी आयु में नहीं पढ़ाना चाहिए। जब बच्चा थोड़ा समझदार बन जाए, तब ही उसे पराभव का, देशद्रोहियों का इतिहास भी सिखाना चाहिए। किसी भी प्रस्तुति से बच्चे में हीनताबोध नहीं होना चाहिए।

इतिहास से समाजमन तैयार होता है। हर समाज में साहित्य, लेखन, लोककथाएँ, बालगीत, लोकवाङ्मय, लोरीगीत आदि के माध्यम से प्रस्तुत इतिहास के उदात्त प्रसंगों द्वारा समाजमन तैयार करने की सहज प्रक्रिया हुआ करती थी। सामान्य लोग इसे भली-भाँति समझते हैं। इसलिये वर्तमान विद्यालयीन शिक्षा में यद्यपि विदेशी शासकों की भूमिका से लिखा इतिहास पढ़ाया जाता है, फिर भी लोकसाहित्य लोकगगीत, बालगीत, लोरियाँ आदि भारत के गौरवपूर्ण इतिहास की गाथा ही गाते हैं।

किसी भी समाज का जीने का एक तरीक़ा होता है। इस तरीक़े को उस समाज की जीवनशैली कहा जाता है। यह जीवनशैली उस समाज की विविध मान्यताओं के आधार पर बनती है। इन मान्यताओं को उस समाज की जीवनदृष्टि कहा जाता है। इस जीवनदृष्टि के आधार पर ही वह समाज अपनी भाषा, कला, साहित्य, न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विविध सामाजिक शास्त्रों की तथा भौतिक, रसायन, वनस्पति आदि भौतिकशास्त्रों की प्रस्तुति करता है और राज्यव्यवस्था, न्यायव्यवस्था, अर्थव्यवस्था आदि विभिन्न व्यवस्थाओं का निर्माण करता है। किसी भी समाज का इतिहास उस समाज के साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा होता है। हम भारतीय हैं। हमारी जीवनदृष्टि अंग्रेज़ों से भिन्न भी है और श्रेष्ठ भी है।

सन्दर्भ :

1. ए स्टुडण्ड्स् हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया - सैय्यद नुरूला और जे.पी. नायक, पृ. 3
2. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3.15.1
3. यजुर्वेद, 22.22

❖❖❖

इतिहास-दृष्टि और विभिन्न संकल्पनाएँ

रवि शंकर

इतिहासलेखन प्रारम्भ करने से पहले इतिहास-दृष्टि पर विचार करना आवश्यक है। आख़िर हम इतिहास क्यों लिखना या पढ़ना चाहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर से ही इतिहासलेखन के तरीके का विस्तार होता है। इतिहासलेखन का वर्तमान प्रकार यूरोप में विकसित हुआ है। इसके जो प्रमुख स्रोत आज स्वीकार किए जाते हैं, पुरातात्त्विक वस्तुएँ और शिलालेख आदि, यह भी यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा ही स्वीकार किया गया है। पुरातत्त्व और शिलालेखों के आधार पर किए गए काल्पनिक अनुमानों को लिखित इतिहास पर वरीयता देने का सिद्धान्त भी उनका ही है। यदि हम ध्यान देकर देखेंगे, तो पाएँगे कि यूरोपीय इतिहासलेखकों ने पूरे विश्व का इतिहास लिखने के क्रम में उनके लिखित साहित्य की पूरी उपेक्षा की और केवल अपने विकसित किए पुरातत्त्वविज्ञान के आधार पर ही इतिहास को लिखने का प्रयास किया है। इस क्रम में उन्होंने पर्याप्त से अधिक कल्पनाएँ की हैं, अपनी मिथ्या पूर्वधारणाओं को उनमें घुसेड़ा है और इस प्रकार पहले से प्रचलित पूरे इतिहास को बदलकर नया इतिहास लिखने का प्रयास किया है। यह सब करने के बाद भी वे इतिहासलेखन के अपने तरीके को वैज्ञानिक तरीका कहते हैं और आज 'वैज्ञानिक' शब्द एक प्रकार का अंधविश्वास बन गया है। यह बात एक वैज्ञानिक ने कही है, यह सुनते ही हमारी तर्कशक्ति समाप्त हो जाती है, हम उसकी बात की परीक्षा किए बिना मान लेते हैं और उस पर अंधविश्वास करने लगते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि वह वैज्ञानिक एक मनुष्य ही है, उसकी अपनी कुछ मान्यताएँ हैं, उसके अपने कुछ अंधविश्वास हैं, उसके मस्तिष्क और इन्द्रियों की भी अपनी सीमाएँ हैं, उसका अपना कुछ स्वार्थ भी है, उसकी अपनी कुछ मजहबी मान्यताएँ भी हैं। और यदि हम यूरोप की बात करें, तो वहाँ कम-से-कम पिछले डेढ़ हज़ार वर्षों से आज तक जीवन के हरेक क्षेत्र में मजहबी कट्टरता हावी रही है, आज भी है।

इतिहासलेखन की यूरोपीय दृष्टि और उसकी समस्याएँ

वास्तव में यूरोपीय इतिहासलेखन की दृष्टि में ही मूलतः समस्या है। उसकी पहली समस्या यह है अधिकांश यूरोपीय इतिहासलेखन केवल यूरोपकेंद्रित ही है। क्लाइव पोंटिंग अपनी पुस्तक

---

* निदेशक, सभ्यता अध्ययन केन्द्र, दिल्ली तथा कार्यकारी सम्पादक, 'भारतीय धरोहर'

'वर्ल्ड हिस्ट्री : ए न्यू पर्सपेक्टिव' की भूमिका में लिखते हैं– इस पुस्तक का मौलिक तर्क यह है कि विश्व के इतिहास को देखने का हमारा तरीका बहुत ही त्रुटिपूर्ण और पूर्वाग्रहयुक्त है। इसकी त्रुटियाँ यूरोपकेंद्रित चिन्तन से जन्म लेती हैं जिसका विश्वास है कि विश्व इतिहास को गति देनेवाली मुख्य ताकत यूरोपीय सभ्यता है जोकि मानव सभ्यता में अभी तक उत्पन्न हुई सभी अच्छी और प्रगतिशील विचारों और प्रक्रियों का उद्गम है। इस प्रकार की दृष्टि में अनिवार्य रूप से अन्य परम्पराओं और समाजों की भूमिका और महत्त्व तथा विश्व के लोगों के अनुभवों को कम अथवा ख़ारिज कर दिया जाता है।[1] यह बात पूरी तरह सही है। परंतु इतिहासलेखन का यूरोपकेंद्रित होना इतना सामान्य हो गया है कि गया है कि पोंटिंग इसका विरोध करने के बाद भी अपनी पूरी पुस्तक यूरोपीय मान्यताओं पर ही लिख गए हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल अपने एक लेख 'इतिहास दर्शन' में लिखते हैं– 'वर्ल्ड-हिस्टरी कहलानेवाली एक भी पुस्तक लेखक ने ऐसी नहीं देखी, जिसमें भारतवर्ष की संस्कृति को उसका उचित स्थान मिला हो, या ग्रंथकर्ता ने उसके समझने में कुछ विशेष परिश्रम किया हो। योरप का जंभासुर सब कुछ अपनी ही दंष्ट्राओं में रख लेता है। उसी के विघस को खाकर आज सब सभ्यताओं के इतिहास प्राणवंत हो रहे हैं।

वर्तमान इतिहासलेखन के यूरोपकेंद्रित होने का प्रमाण पाने के लिए ढेर सारी पुस्तकें पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है, यह बात तो हम केवल एक तथ्य से समझ सकते हैं। आधुनिक इतिहासलेखन वैज्ञानिकता को स्वीकारने और मिथकीय चरित्रों को इतिहास में स्थान देने से इनकार करने के बाद भी अपनी कालगणना एक मिथकीय चरित्र ईसा मसीह के आधार पर करता है। वर्तमान यूरोपीय इतिहासलेखन में ईसा मसीह एक मिथकीय चरित्र हैं, ऐतिहासिक नहीं। उनके जन्म इत्यादि का कुछ भी ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं है। फिर भी इनकी सारी कालगणना ईसापूर्व यानी 'बीसी' और ईसा-पश्चात् यानी 'ए.डी.' में सिमटी हुई है। अपनी इस मजहबी और यूरोप-केंद्रित सोच को थोड़ा ठीक करने के लिए अब 'बी.सी.' को 'बी.सी.ई.' और 'ए.डी.' को 'सी.ई.' लिखा जाने लगा है। यूरोपीय और नवयूरोपीय, जिसमें अमेरिकी, ऑस्ट्रेलियाई आदि यूरोपीय बसावटवाले देश आते हैं, विद्वानों ने इन दोनों का प्रयोग करना बन्द कर दिया है। परंतु यह भी एक प्रकार का ऐतिहासिक छल ही है। यह तो साफ़ है कि ईसवी सन् और ईसापूर्व की गणना अवैज्ञानिक, अनैतिहासिक और साम्प्रदायिक है। ऐसे में 'बी.सी.' और 'ए.डी.' के रूप में ईसापूर्व और ईसवी सन् की गणना का प्रयोग करने में यूरोपीय विद्वानों को समस्या आने लगी थी। उन्हें स्वयं ही यह लगने लगा था कि यह ग़लत गणना है। परंतु वे ग्रिगोरियन कैलेंडर को लेकर इतने अधिक पूर्वाग्रह से भरे हैं कि उसे छोड़ने की सोच भी नहीं सकते। इसलिए उन्होंने एक मध्य का मार्ग निकाला। उन्होंने इसका नाम बदल दिया। 'बी.सी.' यानी बिफोर क्राइस्ट यानी ईसापूर्व को वे 'बिफोर कॉमन एरा' यानी सामान्य युग से पूर्व और 'ए.डी.' यानी 'एनस डोमिनी' यानी 'ईयर ऑफ़ लॉर्ड' यानी ईसवी सन् को 'कॉमन एरा' यानी सामान्य युग कहना प्रारम्भ कर दिया। हालांकि इसका उपयोग अंग्रेज़ों ने अट्ठारहवीं शताब्दी में शुरू कर दिया था, परंतु यह आधिकारिक तौर पर मान्य नहीं था। वर्ष 2002 में इंग्लैण्ड और वेल्श ने इसे आधिकारिक तौर पर शिक्षण-संस्थानों में लागू कर दिया। फिर ऑस्ट्रेलिया और अमेरिका ने भी वर्ष 2011 में इसे आधिकारिक तौर पर अपना लिया। परंतु समझने की बात यह है कि केवल नाम

बदल देने से कोई चीज वैज्ञानिक और ऐतिहासिक नहीं हो जाती।[2]

इतिहासलेखन के वर्तमान तरीके के यूरोप-केंद्रित होने के अलावा दूसरी समस्या है कि पश्चिमी इतिहासकारों की इतिहासविषयक जानकारी बहुत ही कम है। इसका पहला कारण है कि यूरोप का अपना इतिहास कठिनाई से कुछ ही हज़ार वर्षों का है, उसमें से भी उसे केवल पिछले तीन हजार वर्षों के इतिहास का ही व्यवस्थित स्वरूप प्राप्त हो पाता है और वह भी पूरे यूरोप का नहीं, बल्कि उसके कुछ हिस्सों का ही जो एशिया और अफ्रीका से जुड़े रहे और उसके कारण वहाँ थोड़ा-बहुत सभ्यता का विकास संभव हो पाया। इसलिए उनके लिए 485 ईसापूर्व में जन्मा हेरोडोटस 'फादर ऑफ़ द हिस्ट्री' हो जाता है। जबकि हेरोडोटस के ठीक पड़ोस भारत में उससे लगभग हज़ार वर्ष पूर्व से इतिहास दर्ज़ किया जा रहा है। परंतु चूंकि उन्होंने हेरोडोटस को इतिहास का पिता मान लिया है, इसलिए भारत के मौर्य साम्राज्य, जिसका कि लिखित इतिहास, पुरातात्त्विक प्रमाण और शिलालेख आदि सभी उपलब्ध हैं और जिसे नकारना उनके बस का नहीं है, का कालखण्ड अनिवार्य रूप से हेरोडोटस के बाद का ही होना होगा। इस मान्यता को स्वीकार करके ही वे भारतीय इतिहास की कालगणना करेंगे और फिर चाहे इसके लिए जितने भी ऐतिहासिक प्रमाणों की उपेक्षा करनी हो, तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना हो, वह सब किया जाएगा, किया गया भी है।

इतिहासलेखन का अंधकार युग

उपर्युक्त दोनों कारणों को ध्यान में रखें, तो पिछले दो-ढाई सौ वर्षों को इतिहासलेखन का अंधकार युग कह सकते हैं। जिस प्रकार यूरोप के अंधकार युग में ईसाइयत के शासन के कारण उसका ज्ञान-विज्ञान आदि सभी कुछ पूरी तरह प्रतिबंधित थे, ठीक उसी प्रकार पिछले दो-ढाई सौ वर्ष के इतिहासलेखन पर ईसाइयत की छाया बुरी तरह छायी रही है। इसलिए यूरोप में 17वीं-18वीं शताब्दी में जो इतिहासलेखन प्रारंभ हुआ, उसकी सबसे बड़ी त्रुटि तो यही थी कि उसकी दृष्टि और सोच– दोनों ही बहुत ही संकुचित थे। आज से 250 वर्ष पहले तक यूरोप ईसापूर्व 4004 से पहले सोच नहीं पाता था और पंद्रहवीं शताब्दी तक भूमध्यसागर ही उसका विश्व था। इसका एक बड़ा कारण था कि इतिहास के नाम पर इंग्लैण्ड और फ्रांस-जैसे देशों के पास भी डेढ़ हज़ार वर्ष से पुराना कुछ भी उपलब्ध नहीं था। वहाँ के साहित्य में इससे अधिक पुराने इतिहास का कोई विवरण दर्ज़ नहीं था। काल और परम्परा की इन दो संकुचित बाधाओं के कारण आज से पाँच-छह सौ वर्ष पहले यूरोप के पास इतिहास में पढ़ने-लिखने के लिए कुछ भी नहीं था। इतिहास के नाम पर थोड़ी बहुत रोम की जानकारी थी, विश्व की जानकारी के नाम पर इण्डिया की कुछ अफ़वाहें थीं और विज्ञान के नाम पर कुछ ईसाई तथा यहूदी अंधविश्वास थे। इनसे न तो संसार को जाना जा सकता था और न ही अपना या फिर विश्व का इतिहास लिखा जा सकता था। फिर इस्लाम के साथ हुए संघर्ष ने चौदहवीं शताब्दी में उन्हें यूरोप से बाहर निकलने के लिए विवश कर दिया। दो सौ वर्ष वे भूमध्यसागर के परे जाने के प्रयासों में लगे रहे। अंततः पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में उनका अफ्रीका, अमेरिका और भारत से प्रत्यक्ष परिचय हुआ। इन इलाकों में अपनी श्रेष्ठता साबित करके कब्ज़ा करने के लिए उन्हें हिंसक, राजनीतिक और आर्थिक संघर्ष तो करने ही

पड़े, बौद्धिक संघर्ष भी कम नहीं करना पड़ा। इस बौद्धिक संघर्ष में ही वर्तमान यूरोपीय इतिहासलेखन का जन्म हुआ। यदि गम्भीरता से पड़ताल की जाए तो यह भी स्थापित होता है कि इस पूरे कालखण्ड में यूरोपीय इतिहासलेखन का मौलिक आधार वास्तव में मजहबी यानी ईसाइयत रही है। लम्बे समय तक ईसाइयत की श्रेष्ठता और शेष विश्व की हीनता को साबित करने के लिए यूरोपीय इतिहासलेखन किया जाता रहा। इसका एक कारण यह भी था कि उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप में शिक्षा पर पूरी तरह चर्च का नियंत्रण था। ऑक्सफोर्ड-जैसे विश्वविद्यालय पूरी तरह चर्च के नियंत्रण में हुआ करते थे।[3] स्वाभाविक ही था कि उस समय के तथाकथित विद्वान् वास्तव में ईसाइयत के मजहबी प्रचारक ही हुआ करते थे। ईसाइयत की मान्यता से बाहर लिखने-पढ़नेवालों को गैलिलियो और कोपरनिकस की भाँति प्रताड़ित और प्रतिबंधित होना पड़ता था।

इतिहासलेखन के इस अंधकार युग में ईसाइयत के प्रभाव से उपजी अल्पज्ञता और संकुचित इतिहासदृष्टि के कारण उन यूरोपीय ईसाई इतिहासलेखकों ने पूरे विश्व के इतिहासलेखन की परम्परा को नकारते हुए नये सिरे से विश्व का इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। इसके लिए उन्होंने इतिहास के नये स्रोत तैयार किये। यह स्वाभाविक भी था। सर्वप्रथम तो उन्हें विश्व के अन्य देशों की स्थानीय भाषाएँ, जैसे– संस्कृत, पाली, स्वाहिली, चीनी, मंगोल आदि नहीं आती थीं। इसलिए वे उन ग्रंथों में उपलब्ध इतिहास को जान नहीं सकते थे। यह एक तथ्य है कि विश्व में इतिहासलेखन और अध्ययन की प्राचीन परम्परा रही है। भारत और चीन से लेकर मिश्र, अमेरिका और यूरोप तक में। इस लेखन और अध्ययन के उदाहरण और परिणाम भी हमें बहुतायत में मिलते हैं। मिश्र, यूरोप, अमेरिका का प्राचीन साहित्य अधिक नहीं मिलता, वह साहित्य यूरोप के सभ्यताओं के संघर्ष की भेंट चढ़ गया। परन्तु भारत, चीन आदि एशियायी देशों में पर्याप्त साहित्य उपलब्ध था जो यूरोपीय पादरियों की पहुँच से दूर था। यूरोपीय इतिहासलेखकों ने अपनी इस अनभिज्ञता को ग्रीक वर्णनों से छिपाने का प्रयास किया। हेरोडोटस, टोलेमी और प्लीनी से लेकर मेगास्थनीज तक के वर्णनों को आधार बनाकर भारत के इतिहास को लिखने का प्रयास किया जाने लगा। समस्या यह थी कि ग्रीक-वर्णनों में जो नाम वर्णित थे, वे भारतीय नामों से मेल नहीं खाते थे। तो जबरन उन्हें कुछ नामों के साथ जोड़ा गया। इसके बाद ग्रीक-वर्णनों को प्रामाणिक साबित करने के लिए उन्हें और प्रमाणों की आवश्यकता पड़ी तो फिर भवनों, स्थापत्यों, मन्दिरों, सिक्कों और विभिन्न कारणों से की गई खुदाई में मिले अवशेषों को आधार बनाया गया। इसे ही बाद में यूरोप में सद्यःविकसित पुरातत्त्व यानी कि 'आर्कियोलॉजी' कहा गया।

वर्तमान आर्कियोलॉजी का जन्म धन और ख़ज़ाने की खोज तथा लूट से जुड़ा हुआ है। यह आज एक सर्वज्ञात तथ्य है कि यूरोपीय अभियानों का उद्देश्य ईसाइयत के मजहबी प्रचार के जुनून के साथ-साथ लूट और केवल लूट ही था। वे इस जानकारी के साथ ही यूरोप से बाहर निकले थे कि भारत में बहुत अधिक सोना आदि धन है और अफ्रीका, अमेरिका आदि सभी उनके लिए उस समय भारत ही था। उस सोने और धन के लोभ में उनके सारे अभियान प्रारम्भ हुए थे। इसलिए कहीं भी किला, महल आदि देखने पर उन्हें वहाँ कोई गड़े ख़ज़ाने के होने का शक

होता था और इसलिए वे वहाँ खुदाई किया करते थे। इसलिए प्रारम्भ में एंटीक्वेरियन यानी पुरानी वस्तुओं के संग्रहकर्ताओं को ही पुरातत्त्वविद् माना जाता था।

इतिहासलेखन, पुरातत्त्व और विज्ञान

पुरातत्त्व के इतिहास का प्रारम्भ माना जाता है 15वीं-16वीं शताब्दी में यूरोप में संग्रह करने तथा मानववाद नामक नये दार्शनिक सिद्धान्त के प्रचलन के कारण। यूरोपीय पुनर्जागरण के काल में कुछ जिज्ञासु लोगों ने प्राचीन ग्रीस और रोम की प्राचीन वस्तुओं का संग्रह करना प्रारम्भ किया, परन्तु वे उसे ऐतिहासिक वस्तु की बजाय केवल कलाकृति मात्र ही मानते थे। प्राचीन वस्तुओं को संग्रह करने के शौक के कारण प्रायोजित खुदाई करना प्रारम्भ हुआ जिसने प्रारम्भिक पुरातत्त्व को जन्म दिया। कहा जाता है कि वर्ष 1798 में नेपोलियन बोनापार्ट ने जब मिश्र पर आक्रमण किया, तो वह वहाँ के लोगों के बारे अधिक-से-अधिक जानने की इच्छा से 175 विशेषज्ञ लोगों का एक दल लेकर गया। इस आक्रमण ने पुरातत्त्व के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात किया। परंतु वैज्ञानिक पुरातत्त्व का विकास 19वीं शताब्दी में यूरोप में जीवविज्ञान और भूगर्भशास्त्र के विकास के साथ हुआ। इसमें दो सिद्धान्तों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। पहला सिद्धान्त था चार्ल्स लाइल के भूगर्भशास्त्रीय समानता के तंत्र का, जिसके आधार पर पुरातत्त्ववेत्ताओं को खुदाई में मिले हुए अवशेषों का समय निर्धारित करना सम्भव हो पाया और दूसरा सिद्धान्त था चार्ल्स डार्विन के क्रमिक विकासवाद का सिद्धान्त। वर्ष 1904 में फ्लिंडर पेट्री ने पुस्तक लिखी 'मेथड्स एण्ड ऐम ऑफ़ आर्कियोलॉजी', जिसने खुदाई करने का एक व्यवस्थित तरीका विकसित किया।[4] इस लंबे उद्धरण से यह पता चलता है कि पुरातत्त्व का इतिहास केवल दो सौ वर्ष पुराना है, उसमें भी वैज्ञानिक पुरातत्त्व का इतिहास कठिनाई से सौ वर्ष पुराना है और आधुनिक पुरातत्त्व का पूरा विज्ञान दो सिद्धान्तों पर आधारित है– चार्ल्स लाइल के समानता का सिद्धान्त और चार्ल्स डार्विन के क्रमिक विकास का सिद्धान्त। यदि हम आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के आधार ही इन दोनों सिद्धान्तों की पड़ताल करें, तो दोनों ही सिद्धान्त नितांत अवैज्ञानिक और मिथ्या साबित होते हैं।

प्रथम दृष्ट्या यह प्रक्रिया काफ़ी वैज्ञानिक प्रतीत होती है, परंतु यदि हम गम्भीरता से विचार करें, तो यह पूरी प्रक्रिया काफ़ी अपरिपक्व और बचकानी साबित होती है। हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी भी वस्तु, व्यक्ति/परिवार/समाज या स्थान के बारे में जानने का सबसे सटीक तरीक़ा उसका अपना वर्णन होता है। उदाहरण के लिए यदि हम किसी व्यक्ति की आयु जानना चाहते हैं, तो इसके लिए भारत में हम उसकी जन्म-कुण्डली देखते हैं। जन्म-कुण्डली में उसके जन्म से जुड़ी सारी बातें लिखी होती हैं। यदि किसी की जन्म-कुण्डली न हो तो बात दूसरी है, परंतु यदि जन्म-कुण्डली उपलब्ध हो तो केवल दो प्रकार के लोग ही उसकी उपेक्षा करके व्यक्ति की आयु पता करने के नये उपाय ढूंढ़ेंगे। पहले तो वे अनपढ़ लोग होंगे, जिन्हें कुण्डली पढ़ने की विधा ही पता नहीं होगी। दूसरे, वे लोग होंगे जो किसी-न-किसी कारण से उस कुण्डली पर विश्वास नहीं करते होंगे। पहले प्रकार के अनपढ़ लोगों के इतिहासलेखन पर तो बिल्कुल भी ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। जिसका स्वयं का ज्ञान काफ़ी सीमित हो, वह दूसरों के बारे कुछ बताने का अधिकार नहीं रखता। दूसरे प्रकार के लोगों के अविश्वास का कारण पता करना

होगा। आख़िर वे किस कारण से कुण्डली को मानने से इनकार कर रहे हैं? यदि हम कोई एक मामला ले लें, तो हमें इस विषय को समझने में सरलता हो जाएगी। उदाहरण हम भारतवर्ष का ही लेते हैं। भारतवर्ष का एक लिखित इतिहास उपलब्ध है जो कि एक लम्बे कालखण्ड की बात करता है। भारत के प्राचीन ऋषि-मुनियों द्वारा लिखित इस इतिहास के अनुसार भारत का इतिहास करोड़ों वर्षों का स्थापित होता है। आज से पाँच सौ वर्ष पहले तक भारत के लोग इसी इतिहास को पढ़ते थे और जानते थे। फिर ईसा पूर्व 4004 वर्ष में पृथिवी की रचना माननेवाले अल्पज्ञ यूरोपीय इस देश में आये। उनके लिए चूँकि पृथिवी ही छह हज़ार वर्ष पहले बनी थी और उनके पास हज़ार, लाख और करोड़ की गिनती के लिए अंक ही नहीं थे तथा 01 अरब 96 करोड़ 08 लाख 53 हज़ार लिखने के लिए उन्हें एक-दो पृष्ठों की आवश्यकता पड़ती थीं[5] और लिख देने पर उसे पढ़ने में कई घंटे लगते थे, इसलिए उन्हें यह समझ नहीं आया कि इस पृथिवी के किसी देश का इतिहास इतना पुराना भी हो सकता है। परिणामस्वरूप उन्होंने इसे एक गपबाजी मान लिया। तात्पर्य यह है कि समस्या हमारे इतिहास में नहीं, उसे न समझ पानेवाले यूरोपीय लोगों की अल्पज्ञता में थी।

जब यह मान लिया गया कि भारत में जो इतिहास लिखा मिलता है, वह मिथ्या है तो फिर यह उन महान यूरोपीय लोगों का दायित्व बनता था कि वे हमारा इतिहास लिखें और हमें बताएँ, पढ़ाएँ। आख़िर दुनिया को सभ्य और विकसित बनाना उनका 'व्हाइट्स मैन बर्डेन' (गोरे लोगों का दायित्व) था न! समस्या यह थी कि यह काम किया कैसे जाए? उनके अपने पास भारतवर्ष की जो जानकारी थी, वह अफ़वाह, अतिशयोक्ति और सपनों जैसी कुछ कल्पनाएँ भर थीं। कोई ठोस जानकारी मिलती नहीं थी। तब उन्होंने ग्रीक साहित्य का सहारा लिया। ग्रीक साहित्य भी चूँकि यूरोपीय सीमा पर रचा गया साहित्य था और वह अधिकांशतः यहूदियों द्वारा लिखित था, इसलिए उसमें भी पृथिवी को छह हज़ार वर्ष पुराना ही माना जाता था और वह भारतीयों की भाँति लाखों-करोड़ों वर्षों की बात नहीं करता था, इसलिए यूरोपीयों द्वारा उसे समझना अधिक आसान था। दूसरे, भूमध्यसागरीय देश होने के कारण यूरोपीयों को उससे लगाव भी था। आख़िर ग्रीक साम्राज्य के अवशेषों पर ही रोमन साम्राज्य और रोमनों के अवशेष पर ईसाई साम्राज्य खड़ा हुआ था। इस प्रकार लिखित साहित्य में ग्रीक साहित्य और उससे मिलान करने के लिए भारत में उपलब्ध अवशेषों का पुरातत्त्वविज्ञान खड़ा किया गया। एक और समस्या यह थी कि ग्रीक साहित्य में भी भारत का वर्णन बहुत नहीं पाया जाता और जो पाया जाता है, वह भी काफ़ी अधूरा, अपूर्ण और अतिशयोक्तिपूर्ण है। ऐसे में उन्हें भारत के साहित्य का सहारा लेना ही पड़ता है, परन्तु ऐतिहासिक प्रमाणों की दृष्टि से भारतीय साहित्य आज भी दूसरे स्थान पर आता है।

ग्रीक साहित्य की कमियों और अस्पष्टता के कारण यूरोपीयों ने फिर प्रत्यक्ष प्रमाणों पर ध्यान दिया। उन्होंने भारत में जो भी पुरानी वस्तुएँ देखीं या पायीं, उनका काल ग्रीक प्रमाणों के आधार पर तय किया और उसके बाद जो भी पुरातात्त्विक खोजें की जाती रहीं, उन्हें इसी ग्रीक आधार पर तय किए गए कालखण्डों में जबरन बैठाया जाने लगा। उदाहरण के लिए हम वेदों और सिंधु घाटी सभ्यता को ले सकते हैं। जब यूरोपीय वेदों का काल-निर्धारण कर रहे थे, उस समय उन्हें सिंधु घाटी के अवशेषों का पता नहीं था। उस समय तक उनके लिए भारत के इतिहास की

सबसे पुरानी वस्तु वेद ही थे। इसलिए उन्होंने उसका काल निर्धारित करते समय यह ध्यान रखा कि वह आदम के काल से पीछे नहीं जा पाए और इसलिए उसका काल 1500 ईसा पूर्व निर्धारित किया। परंतु उसके बाद एक खुदाई में उन्हें सिंधु घाटी के नगरों के अवशेष मिल गए। उसका काल वैसे तो काफ़ी पुराना जा रहा था, परंतु जैसा कि हम पहले देख आए हैं कि उस समय तक भी अपने पूर्वाग्रहों के कारण वे किसी भी मानव सभ्यता का काल चार हज़ार ईसा पूर्व से पहले नहीं ले जा सकते, इसलिए उन्होंने उसे ढाई हज़ार वर्ष ईसा पूर्व का मान लिया। समस्या यह थी कि वेदों का काल तो केवल 1500 ईसा पूर्व का उन्होंने पहले तय कर दिया था। अब वेदों से पुरानी कोई सभ्यता मिल गयी। होना तो यह चाहिए था कि इन पुरातात्त्विक अवशेषों के प्रमाण के आधार पर वेदों का काल पीछे खिसकाया जाता, परंतु यूरोपीयों को इसमें समस्या यह थी कि इससे भारतीय सभ्यता का काल आदम के काल से पीछे चला जाता। यह वे कैसे होने देते? इसलिए उन्होंने सिंधु घाटी को स्थानीय सभ्यता माना और उस पर आर्यों के आक्रमण की कहानी गढ़ी। आर्यों के आक्रमण से सिंधु घाटी सभ्यता का विनाश और उसके बाद वेदों को रचे जाने का एक मिथ्या इतिहास खड़ा किया गया, जो कि आज तक भारत के सभी विश्वविद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

विज्ञान का अंधविश्वास

यह स्थिति केवल भारत के साथ ही नहीं है। यह स्थिति पूरे विश्व के इतिहास के साथ है। जिस भी देश का इतिहास यूरोपीय लोगों ने लिखने का प्रयास किया, उन्होंने उन सभी देशों का इतिहास पाँच हज़ार वर्ष में निपटाने की कोशिश की। इसका एक और उदाहरण चीन है। चीन का इतिहास उनकी अपनी परम्परा के अनुसार लगभग दस हज़ार वर्ष पुराना है। परंतु यूरोपीयों ने उसे खींचकर 1300 ईसा पूर्व यानी कि कुल 4,300 वर्षों पर ला दिया है। इसके लिए वे एक बार फिर पुरातत्त्व का सहारा लेते हैं। पुरातत्त्व यानी ज़मीन की खुदाई में प्राप्त वस्तुओं के आधार पर कालक्रम का निर्धारण। यही काम उन्होंने अमेरिका, अफ्रीका और ऑस्ट्रेलिया के साथ भी किया। जहाँ उन्हें इससे पुराने प्रमाण मिले और पश्चिमी विज्ञान की थोड़ी प्रगति हुई और उन्हें पृथ्वी का इतिहास लाखों-करोड़ों वर्ष स्वीकार करना पड़ा तो उन्होंने सभ्यता के विकास को इसी पाँच हज़ार वर्ष में समेटने का प्रयास किया। इसके लिए एक नये युग-विभाजन की कल्पना की गयी। यह काल-विभाजन भी ईसाई-मान्यताओं के आधार पर ही था। हालाँकि प्रत्यक्षतः यह ईसाई-मान्यताओं के विपरीत दिखाई देता है, परंतु परोक्षतः यह ईसा के चारों ओर ही घूमता है। यह काल-विभाजन है– पाषाण-युग, कांस्य-युग और लौह युग का। इस काल-विभाजन की संकल्पना डेनिश पुरातत्त्वविद् क्रिश्चियन जर्गेनसन थॉमसन ने वर्ष 1819 में की थी। बाद में पाषाण-काल को और तीन भागों में बाँटा गया– पुरापाषाण युग, मध्यपाषाण युग और नवपाषाण युग। इन युगों का कालखण्ड भी कुछ-कुछ निर्धारित है। कुछ-कुछ इसलिए कि ये कालखण्ड हैं और इसलिए इनकी सीमा ही आँकी जा सकती है, निश्चित काल नहीं (कृपया चार्ट देखें)। इस युगगणना को कुछ इस प्रकार निर्धारित कर दिया गया है कि इसमें का विज्ञान गायब हो गया है और इसमें केवल अंधविश्वास शेष बच गया है। यानी आप इस पर प्रश्न खड़े नहीं करते, बस इसे मान लेते हैं और इसके आधार पर ही मिलनेवाले नये तथ्यों की व्याख्या करते हैं।

इस अंधविश्वास को समझना हो तो एक उदाहरण देख सकते हैं। लौह युग को 1000 वर्ष से लेकर 500 वर्ष ईसा पूर्व तक का माना जाता है यानी ईसा के 1000 वर्ष से पहले मानव को लोहे का प्रयोग ज्ञात नहीं था। अब इतिहास का एक तथ्य देखें। कालीबंगा, राजस्थान में 3000 वर्ष ईसा पूर्व का एक जुता हुआ खेत खुदाई में मिला है। यह खेत बिल्कुल आधुनिक तरीके से दो फसलों की मिश्रित खेती के लिए जुता हुआ है। अब खेत की जुताई बिना हल के नहीं की जा सकती और हल बिना लोहे के नहीं बन सकता। वस्तुतः लकड़ी का कोई भी सामान बिना लोहे के औजारों की सहायता के नहीं बन सकता। परंतु चूंकि आज के विज्ञान के अंधविश्वास में 1000 वर्ष ईसा पूर्व से पहले लोहे के औजार के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया जाता, इसलिए इतने महत्त्वपूर्ण प्रमाण की उपेक्षा कर दी जाती है और कहा जाता है कि काँसे से ही यह सब कुछ किया गया होगा।

बहरहाल, भले ही भारत में आज इन युगों के विभाजन को आज अन्तिम सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया हो, फिर भी इन युगों के विभाजन का प्रतिपादन करनेवाले विद्वान् भी इसकी व्यर्थता को नकार नहीं पाए हैं। उदाहरण के लिए 'हिस्ट्री ऑफ़ एनशिएंट सिविलाइजेशन' में चार्ल्स साइनोवोस लिखते हैं, एक और उसी देश के लोगों ने क्रमशः अनगढ़ पत्थरों, तराशे हुए पत्थरों, कांसे तथा लोहे का प्रयोग करना सीखा। परन्तु सभी देश एक ही समय में एकसाथ एक ही युग में नहीं रहे। मिश्र ने तभी लोहे का प्रयोग प्रारंभ कर दिया जब ग्रीक कांस्य युग में ही जी रहे थे और डेनमार्क के बर्बर लोग पत्थरों का ही प्रयोग कर रहे थे। अमेरिका में तराशे गए पत्थरों का युग (नूतन पाषाण युग) यूरोपियों के वहाँ जाने के बाद समाप्त हुआ। हमारे अपने काल में अभी भी ऑस्ट्रेलिया के असभ्य कबीले अनगढ़ पत्थरों के काल में ही रह रहे हैं। ...इस प्रकार ये चार युग मानवता की यात्रा के कालखण्डों को प्रदर्शित नहीं करते, बल्कि हरेक देश में ये सभ्यता के विकास की कहानी कहते हैं।'[6]

प्रश्न उठता है कि यदि यह बात सच है तो किस आधार पर अपने देश में बच्चों को यह पढ़ाया जाता है कि लौह युग केवल हज़ार वर्ष ईसापूर्व में प्रारम्भ हुआ? फिर हम पूरी दुनिया के इतिहास को नियोलिथिक, पैलियोलिथिक आदि युगों में क्यों बांट देते हैं? यह कालखण्ड तो हरेक देश का अलग-अलग होना था। इसके लिए हरेक देश के इतिहास की अलग-अलग पड़ताल करनी थी। उदाहरण के लिए भारत की बात करें तो यहाँ वेदों में लोहे का स्पष्ट उल्लेख है। आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार भी वेद तो कम-से-कम 4-5 हज़ार वर्ष पुराने हैं। स्पष्ट है कि भारत का लौह युग कम से कम 4-5 हज़ार वर्ष पुराना होना ही चाहिए। ऐसे में शेष युग तो और भी पीछे चले जाएँगे। इसमें अभी एक और समस्या है। समस्या यह है कि विश्व के सभी देशों में नूतन पाषाण युग के बाद कांस्य-युग नहीं आया। प्राचीन भारत के इतिहासकारों में एक प्रमुख नाम डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी अपनी पुस्तक 'हिंदू सभ्यता' में लिखते हैं, भारतवर्ष में अन्य देशों की भाँति विकास-क्रम की ये सारी अवस्थाएँ होती हैं। केवल कांस्य-युग के स्थान पर (कुछ प्रदेशों को छोड़कर) ताम्र-युग से मिलती संस्कृति यहाँ हुई।[7] वे यह भी लिखते हैं कि पूर्व-प्रस्तर के अवशेष यहाँ कम ही हैं।[8] इसका अर्थ यह है कि भारत में पत्थरों के औज़ारों का प्रयोग नहीं के बराबर

हुआ। एक और मज़ेदार बात यह है कि पाषाण-युग में भी भारत में लोहे के औज़ार मिल रहे हैं। राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं, 'दक्षिण भारत में कई स्थानों पर नव-प्रस्तर-युग की बस्तियाँ तथा उनके औज़ारों को गढ़ने की कर्मशालाओं के स्थान पाए गए हैं। ज्ञात होता है कि वे लोग अपने औज़ारों को कड़ी चट्टानों पर बनाई हुई घाइयों में घिसते और माडते थे। 10 से 14 इंच तक लम्बी और दो इंच गहरी घाइयाँ पाई गई हैं। इन बस्तियों में चाक के बढ़िया बर्तन बहुतायत में मिले हैं, लम्बे ताबूत मिले हैं, जिनके साथ कभी-कभी लोहे के औज़ार भी पाए गए हैं। पत्थर की शिलाओं से निर्मित समाधियाँ या स्थाणु-संज्ञक निखात स्थान (मैगेलिथिक टोम्ब) मद्रास, बम्बई, मैसूर और हैदराबाद (दक्षिण) राज्य में बहुतायत में मिले हैं, परंतु उनमें प्राप्त लोहे के औजारों से वे नव-प्रस्तर-युग की ज्ञात होती हैं। ...पाषाण-युग के बाद दक्षिण भारत में लौह-युग और उत्तर भारत में ताम्र-युग आया।'[9]

उपर्युक्त विवरण साफ़ कर देता है कि मानव सभ्यता का पाषाण-युग, नवपाषाण युग, कांस्य-युग और लौह युग का विभाजन भारत पर लागू नहीं होता। जिसे यूरोपीय लोग पाषाण-युग कह रहे हैं, भारत में उस काल में भी लोहे के औज़ार मिल रहे हैं और भारत में तो कांस्य-युग आ ही नहीं रहा है। यहाँ पहले लौह तथा ताम्र-युग आ रहा है। हालांकि यदि भारतीय शास्त्रों के मत को देखें, तो यह सारा युग-विभाजन मूर्खतापूर्ण ही जान पड़ता है। महाभारत जोकि आज से पाँच हज़ार वर्ष पहले की घटना है और जिसकी ऐतिहासिकता को नकारने का कोई कारण नहीं है, में लोहे का पर्याप्त से अधिक प्रयोग पाया जाता है। पाँच हज़ार वर्ष पूर्व यूरोप का इतिहास प्रारम्भ ही हो रहा था। वहाँ तो इस समय मनुष्य पूर्वपाषाण युग में जी रहा था। फिर आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार रामायण की घटना आज से लगभग सात हज़ार वर्ष पहले हुई। रामायण में भी लोहे के प्रयोग के भरपूर वर्णन हैं। ऐसे में भारत में लौह युग तो और पहले का मानना पड़ेगा। इस काल में यूरोप में मानव के इतिहास का प्रारम्भ भी नहीं होता। वहाँ डार्विन के मतानुसार अभी निएंडरथल ही जीवन के लिए संघर्ष कर रहे थे। यदि भारतीय मतों को मानें, तो रामायण का काल और पीछे जाएगा और रामायण तो हमारे इतिहास में काफ़ी बाद की घटना है, उससे पहले लाखों वर्षों का इतिहास घटा है जिसमें लोहे के प्रयोग पर्याप्त हैं।

इस सारे विवरण को पढ़ने से यह साफ़ हो जाता है कि मानव सभ्यता के विकास को आज जिन चार कालखण्डों में बाँटा जाता है, वे न केवल मिथ्या हैं, बल्कि भ्रामक भी हैं। उन्हें ये चार कालखण्ड इसलिए बनाने पड़े ताकि वे पूरी दुनिया के इतिहास को यूरोप के इतिहास के साँचे में ढाल सकें। वे यह बता सकें कि यूरोप शेष दुनिया से थोड़ा-बहुत ही पीछे था, और उसने पिछले 3-4 सौ वर्षों में पूरी दुनिया को पीछे कर दिया है। सच्चाई यह है कि दुनिया का इतिहास इन चार कालखण्डों में नहीं बाँटा जा सकता। प्रख्यात भूगर्भशास्त्री चार्ल्स हैपगुड अपनी पुस्तक 'मैप्स ऑफ़ एनशिएंट सीकिंग्स' में लिखते हैं, 'पाषाण-युग की संस्कृति, नवपाषाण युग, कांस्य-युग, और लौह युग के क्रमबद्ध स्तरों से होती हुई मानवी सभ्यता के सरल एकरैखिक विकास की संकल्पना को त्याग दिया जाना चाहिए। आज हम पाते हैं कि दुनिया के सभी महादेशों में आदिम संस्कृतियाँ विकसित आधुनिक समाज के साथ रहती हैं– ऑस्ट्रेलिया के बुशमेन, दक्षिण

अफ्रीका के बुशमेन, दक्षिण अमेरिका और गुएना के सच्चे आदिम लोग संयुक्त राज्य अमेरिका के कुछ कबीलाई लोग आदि। हमें अब यह मान लेना चाहिए कि आज से 20 हज़ार वर्ष पहले जब यूरोप में पाषाणयुगीन लोग रह रहे थे, पृथिवी के अन्य हिस्सों में उससे कहीं अधिक विकसित संस्कृतियां उपस्थित थीं और आज हमारे पास जो कुछ भी है, उसका एक हिस्सा उनकी ही विरासत है जोकि एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दी गयी।[10]

मिथ्या सिद्धान्त, मजहबी धारणाएँ

कुल मिलाकर यह कहना ग़लत नहीं होगा कि पुरातत्त्व का कालविभाजन भी कहीं-न-कहीं मजहबी रंग में ही रँगा हुआ है। जिन वैज्ञानिक कहे जानेवाले सिद्धांतों के आधार पर यह काल विभाजन किया जाता है, वे भी मजहबी प्रभाव में ही विकसित हुए हैं। इन काल-विभाजनों में पहली समस्या तो काल के एकरैखिक होने की संकल्पना की ही है। प्रसिद्ध अंतरिक्षविज्ञानी डॉ. ओमप्रकाश पाण्डेय कहते हैं, 'इस तरह का कालविभाजन वास्तव में समय के एकरैखिक विकास की यहूदी-ईसाई संकल्पना की उपज है। भारतीय संकल्पना में काल की गति चक्रीय है, एकरैखिक नहीं और इसलिए भारतीय संकल्पना समय की अधिक बड़ी दूरी को माप सकती है।[11] चक्रीय काल की संकल्पना के कारण ही भारतीय युग गणना लाखों-करोड़ों वर्षों की बात करती है, जो बाइबिल के ईसा की कालगणना से बँधे यूरोपीयों को समझ में नहीं आ पाती। चार्ल्स हैपगुड सरीखे जो यूरोपीय इस बाधा से मुक्त हो गए हैं, वे भी मानव सभ्यता का इतिहास लाखों वर्षों का मानने लगे हैं। यह देखना महत्वपूर्ण है कि भारत की जिस करोड़ों तथा अरबों वर्षों की गणना को यूरोपीय मिथक मानकर ख़ारिज़ कर देते हैं, आज का भूगर्भशास्त्र भी लगभग उसी प्रकार की करोड़ों तथा अरबों वर्षों की गणना करने लगा है।

इन काल-विभाजनों के लिए भूगर्भशास्त्रियों ने जो प्रमाण दिए हैं, उनका आलोड़न करने से हमें इस काल-विभाजन की प्रामाणिकता और सत्यता का पता चलता है। भूगर्भशास्त्री विभिन्न चट्टानों के अध्ययन और उनके काल के रासायनिक निर्धारण से यह कालविभाजन करते हैं। हम पहले देख आए हैं कि पुरातात्त्विक काल-विभाजन के दो ही वैज्ञानिक आधार हैं। पहला है चार्ल्स लाइल का समानता का सिद्धान्त और दूसरा है चार्ल्स डार्विन का क्रमिक विकास का सिद्धान्त। दोनों ही सिद्धान्त केवल कल्पना और अटकलों पर आधारित हैं। इस काल-विभाजन में सबसे बड़ी खामी यही है। चट्टानों की आयु से सृष्टि के चक्र को समझना असम्भव बात है। सृष्टि के चक्र में जल-प्लावन, बर्फयुग जैसी अनेक प्रकार की छोटी-मोटी घटनाएँ ऐसी घटती रहती हैं जो चट्टानों के निर्माण और विकास की प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं जबकि भूगर्भशास्त्री यह मानकर कालनिर्णय करते हैं कि प्रति भूगर्भशास्त्रीय प्रक्रियाएँ प्रारम्भ से लेकर आज तक गति और प्रमाण में समान दर से होती रही हैं। यह सिद्धान्त वर्ष 1833 में आधुनिक जियोलॉजी के पिता माने जानेवाले चार्ल्स लाइल ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ़ जियोलॉजी' में दिया था जिसे 'थ्योरी ऑफ़ यूनिफार्मिटी' यानी समानता का सिद्धान्त कहते हैं। यही सिद्धान्त आज तक मान्य है और इसके आधार पर ही सारी भूगर्भशास्त्रीय कालगणना की जाती है। चूंकि यह मानवीय गणना की क्षमता से परे एक लम्बे कालखण्ड की बात है, इसलिए इसमें हमें कुछ चीजें मानकर ही चलनी

होती हैं। परंतु यह कहना कहीं से भी ठीक नहीं है कि प्राकृतिक घटनाएँ प्रारम्भ से लेकर आज तक हमेशा एक ही गति और प्रमाण में होती रही हैं। यह सम्भव नहीं है। पृथिवी पर ताप और दाब जब हमेशा एक समान नहीं रहा है तो फिर प्रक्रियाओं की गति एक समान कैसे हो सकती है? यह तो विज्ञान का सामान्य-सा विद्यार्थी भी जानता है कि समस्त भौतिक घटनाएँ ताप और दाब से प्रभावित होती हैं। इसलिए भूगर्भशास्त्र की ये सारी गणनाएँ वस्तुतः एक मिथ्या सिद्धान्त पर टिकी हैं। इतिहास का लेख होने के कारण यहाँ इस सिद्धान्त का अधिक वैज्ञानिक विश्लेषण करना समीचीन नहीं होगा, परंतु नवीनतम खोजें निरंतर यह साबित कर रही हैं कि यह सिद्धान्त अशुद्ध है और इसलिए इसके आधार पर की जानेवाली गणनाएँ भी अशुद्ध हैं। इसके कुछेक उदाहरण हम आगे के वर्णनों में देखेंगे। पुरातात्त्विक काल-विभाजन का दूसरा सिद्धान्त क्रमिक विकास का सिद्धान्त वर्ष 1859 में चार्ल्स डार्विन ने अपनी पुस्तक 'ओरिजीन ऑफ़ स्पेसिज' में दिया था। यह सिद्धान्त भी एक कल्पनामात्र ही है। यह आज वैज्ञानिक रूप से साबित नहीं किया जा सका है। इसमें इतने अधिक कमियाँ हैं कि इसे वैज्ञानिक कहना ही विज्ञान का अपमान है। क्रमिक विकास और विकासवाद की वैज्ञानिक समीक्षा भी इस आलेख में नहीं की जा रही है, परंतु इनकी व्यर्थता को साबित करनेवाले कुछेक तथ्य यहाँ अवश्य प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

अपरिवर्तनीय सिद्धांत, परिवर्तनीय इतिहास

इन दो मिथ्या सिद्धान्तों के आधार पर जो गणनाएँ की जा रही हैं और जो इतिहास लिखा जा रहा है, वह निरन्तर बदल रहा है। केवल 20-25 वर्षों में उस इतिहास में नये तथ्य आ जाते हैं जो पुराने तथ्यों को झूठा साबित कर देते हैं। इनमें कितनी तेजी से परिवर्तन हो रहा है, इसे समझना हो तो एक उद्धरण देखना रोचक होगा। ए हायत वेरिल अपनी पुस्तक 'अमेरिकाज एनशिएन्ट सिविलिजेशन' की भूमिका में लिखते हैं, 'मेरी लिखी पुस्तक ओल्ड सिविलिजेशन्स ऑफ़ द न्यू वर्ल्ड के बाद बीते पिछले 23 वर्षों में काफ़ी नयी सामग्रियाँ मिली हैं, अनेक नयी खोजें की गई हैं, अनेक सिद्धान्त और निष्कर्षों को किनारे कर दिया गया है, और वर्ष 1929 में जिन सिद्धान्तों को ख़ारिज़ कर दिया गया था, उन्हें स्वीकार कर लिया गया है। यह प्रथम दृष्ट्या प्रतीत होता है कि पिछली कई शताब्दियों से अमेरिका के अवशेषों का अध्ययन करनेवाले पुरातत्त्वविद् तथा नृतत्त्वविज्ञानी बर्बाद हो चुके सभी नगरों की खुदाई कर चुके हैं, सभी मृत की पड़ताल कर चुके हैं और सभी शिलालेखों पर दिमाग लड़ा चुके हैं, इसलिए अब खोजने या जानने के लिए नया कुछ भी नहीं बचा है, परंतु सतह को हल्का-सा ही कुरेदा जा सका है। यहाँ तक कि सैकड़ों वर्षों से ज्ञात अवशेषों तथा कब्रों की भी आंशिक खुदाई ही की जा सकी है, और दक्षिण अमेरिका के विशाल इलाके में या फिर केंद्रीय अमेरिका तथा मैक्सिको के गहन जंगलों में सैकड़ों बल्कि हज़ारों ऐसे और स्थान हैं जिनकी अभी तक पहचान तक नहीं की जा सकी है। मैक्सिको शहर के म्युजियो नेशनल के डॉ. रूबिन डि ला बारबोलो ने मुझे बताया कि केवल चियापास राज्य में ही दो सौ स्थानों की पहचान की गई है जिनकी अभी तक जाँच नहीं की सकी है, और पेरू राज्य में सैकड़ों कब्रें हैं जिनकी कभी खुदाई नहीं की गई है, अनेक पिरामिड और बर्बाद हो चुके शहर हैं जिनका कभी भी अध्ययन नहीं किया गया है।'[12] यह भूमिका वर्ष 1952 में लिखी गई है। कुछ

ऐसी ही बात चीन के वर्तमान जिनज्यांग इलाके के लिए जान रोमगार्ड लिखते हैं, 'एक शब्द जो कि चीनी खुदाई रिपोर्टों में बार-बार मिलता है, वह है क्निन्जियो यानी आपातकालीन बचाव। पाइपलाइन, रेलमार्गों, सड़कों, पानी के स्रोतों, पनबिजली-परियोजनाओं और आवासीय निर्माणों ने पुरातात्त्विक संस्थाओं को हड़बड़ी करने के लिए बाध्य कर दिया है कि इससे पहले कि बहुत देर हो जाए, पुरातात्त्विक अवशेषों में, जितना बचाना, भव है, उसे बचा लिया जाए।'[13] यह उद्धरण वर्ष 2008 का है।

ये दो उद्धरण यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि पुरातात्त्विक अध्ययन इतिहास को जानने का बहुत ही बचकाना प्रयास है। लाखों स्थानों में से आप किसी एकाध स्थान की खुदाई करते हैं, उसमें से भी आपको यह पता नहीं होता कि वहाँ कितनी बार कितने निर्माण हो चुके हैं और कितनी बार शहर उजड़े और बसे हैं। अभी ही जिन इलाकों में पुरातात्त्विक अवशेषों को नष्ट करके नयी बसावट और निर्माण किए जा रहे हैं, उन इलाकों में यदि आज से दो हज़ार वर्ष बाद खुदाई की जाएगी तो उन्हें आजवाले अवशेष ही प्राप्त होंगे, आज से हज़ारों वर्ष पुरानेवाले नहीं। यह स्पष्ट करता है कि पुरातात्त्विक अध्ययन काफी एकांगी और अपूर्ण है। इसकी सीमाएँ इतनी अधिक हैं कि इसे केवल लिखित और मौखिक ऐतिहासिक वर्णनों के सहयोगी स्रोत के तौर पर ही स्वीकार किया जा सकता है, स्वतंत्र स्रोत के रूप में नहीं। साथ ही जिस विज्ञान का यह सहारा लेता है, उस विज्ञान की आयु भी केवल सौ वर्ष की है। उसे तो अभी अपने सिद्धान्त स्थिर करने हैं। विज्ञान के सिद्धान्त पचास-सौ वर्षों में स्थिर नहीं होते, उसके लिए हज़ारों वर्ष के प्रयोग और अनुसन्धानों की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए हम भारतीय ज्योतिषशास्त्र को देख सकते हैं। उसके सारे सिद्धांत हज़ारों वर्षों से परीक्षित हैं और इसलिए एक अनपढ़-सा ज्योतिषी भी सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण जैसी खगोलीय गणनाएँ सरलता से करने में सक्षम है। दूसरी ओर आधुनिक पश्चिमी विज्ञान के सिद्धान्तों का परीक्षण करने में तो करोड़ों-अरबों रुपयों का व्यय होता है और उसे करने के लिए बहुत ही क्लिष्ट प्रक्रियाओं की आवश्यकता पड़ती है जिसे साधारण पढ़े-लिखे यानी विज्ञान के स्नातक और परास्नातक भी नहीं कर सकते। ऐसे में कुछेक चुनिंदा वैज्ञानिक कहे जानेवाले लोगों अथवा उनके बनाए गए यंत्रों की रिपोर्टों पर हमें अंधविश्वास करना पड़ता है। ये वैज्ञानिक नियोजित भी हो सकते हैं और यंत्रों की गणनाएँ ग़लत भी हो सकती हैं, जो कि निरंतर साबित भी हो रहा है। इनकी कालगणनाओं में लाखों वर्षों का अन्तर आना प्रारम्भ हो गया है। जिन आदिमानवों को पहले दो लाख वर्ष पुराना माना जाता था, अब उन्हें तीन-चार लाख वर्ष पुराना माना जाने लगा है। यदि आदिमानवों का अफ्रीका से यूरोप और मध्य-पूर्व एशिया में आने का काल पहले पचास हज़ार वर्ष पूर्व का माना जाता था तो आज उसमें भी लाखों वर्षों का अन्तर आ गया है। पहले यह माना जाता था कि आदिमानव पूरी तरह मांसाहारी था, आज वे मानते हैं कि वह शाकाहारी भी था।[14] निरंतर उन्हें नयी खुदाइयों में नयी चीजें मिल रही हैं, और वे निरंतर अपने तथ्यों को बदल रहे हैं। ऐसे में इसे इतिहास कैसे कहा जाए? इसे तो विज्ञान का अंधविश्वास ही कहा जा सकता है।

कुल मिलाकर हम कह सकते हैं कि लाखों-करोड़ों वर्षों के विशाल कालक्रम को

आज की यूरोपीय शैली के इतिवृत्तात्मक तरीके से जानने में मानव बिल्कुल भी समर्थ नहीं है। इसलिए भारतीयों का कालक्रम से परे इतिहासलेखन की पौराणिक शैली ही एकमात्र आधार बचती है। कल्पनाएँ दोनों ही पद्धतियों में की जाती हैं और असम्भव गाथाएँ भी दोनों ही शैलियों की विशेषताएँ हैं, परन्तु आधुनिक यूरोपीय शैली जड़वादी होने के कारण मनुष्य में अधर्म और पाप का संचार करती है जो अंततः एक हिंसक और असभ्य समाज की रचना करती है, जबकि इतिहासलेखन की भारतीय पौराणिक शैली मनुष्य में धर्म और पुण्य का संचार करती है जो अंततः एक सभ्य और अहिंसक समाज की रचना करती है। यही इतिहासलेखन का वास्तविक प्रयोजन भी है।

सन्दर्भ :

1. वर्ल्ड हिस्ट्री : ए न्यू पर्सपेक्टिव, पृ. 1
2. भारत में यूरोपीय यात्री, पृ. 27
3. वही, पृ. 162-163
4. https://science.howstuffworks.com/environmental/earth/archaeology/archaeology1.htm
5. इसे समझना हो तो आप केवल 2018 को रोमन अंकों में लिख कर देखें। यह बनेगा MMXVIII और यदि हमें 12325 लिखना हो तो यह होगा MMMMMMMMMMMMCCCXXV, इससे हम समझ सकते हैं कि रोमन अंकों के उपयोगकर्ता इतिहास को इतनी छोटी अवधि का क्यों मानते रहे होंगे।
6. हिस्ट्री ऑफ़ एनशिएंट सिविलाइजेशन, पृ. 9-10
7. हिंदू सभ्यता, पृ. 27
8. वही, पृ. 27
9. वही, पृ. 28
10. मैप्स अफ एनशिएंट सीकिंग्स, पृ. 193
11. 13 जनवरी, 2018 को आईसीएचआर में दिया गया व्याख्यान
12. अमेरिकाज एनशिएन्ट सिविलिजेशन, पृ. XV
13. क्रेश्चन्स अफ एनशिएन्ट ह्यूमन सैटलमेन्ट्स इन जिनज्यांग, पृ. 11
14. https://www.ancient-origins.net/human-origins-science/anomalous-skeletons-0011224

❖❖❖

इतिहास का इतिहास-दर्शन

डॉ. विवेक भटनागर*

भारत में 'इतिहास के इतिहास' पर कथित वैचारिक मंथन का दौर अंग्रेज़ी हुकूमत ने प्रारम्भ किया और यूरोपीय विद्वानों ने भारत पर इतिहास की उपेक्षा के आरोप भी बड़ी सरलता से जड़ दिये। एलफिन्सटन को सिकंदर के हमले के पूर्व किसी भी घटना का निश्चित समय नहीं दिखाई पड़ता। विटरनिट्ज यहाँ काव्य, नायकत्व और इतिहास का घालमेल देखता है। इनसे पूर्व 11वीं शती में महमूद गजनवी के साथ आए तुर्क विद्वान् अल-बीरूनी ने तो इसे और सहजता से कहा कि हिंदुस्तान में घटनाओं के ऐतिहासिक क्रम पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। वे अपने सम्राटों के कालक्रमानुसार उत्तराधिकार के वर्णन में लापरवाह हैं। किसी ने भी भारत के इतिहास बोध को देखने में भारतीय नज़रिये को समझने की न तो कोशिश की और न ही उसके बारे में जानकारी जुटाने की। ये सभी विद्वान् भारत के इतिहास को अपने नज़रिये से देखते गए और अपना विचार भारतीयों पर शासन के माध्यम से थोप दिया। अंग्रेज़ों ने तो छाँट-छाँटकर भारतविरोधी लेखकों को हमें पढ़ाया और देश में एक विशाल तबका खड़ा कर दिया जो भारतीय ज्ञान का विरोधी हो गया। वैसे भारतीय इतिहास पर अपनी पुस्तक में विद्वान् इतिहासकार काशीप्रसाद जायसवाल कहते हैं कि इतिहास न्यूनाधिक उसी प्रकार का सत्य है जैसा विज्ञान और दर्शन होता है। जिस प्रकार विज्ञान और दर्शन में हेरफेर होते हैं, उसी प्रकार इतिहास के चित्रण में भी होते रहते हैं। मनुष्य के बढ़ते हुए ज्ञान और साधनों की सहायता से इतिहास के चित्रों का संस्कार, उनकी पुरावृत्ति और संस्कृति होती रहती है। प्रत्येक युग अपने-अपने प्रश्न उठाता है और इतिहास से उनका समाधान ढूँढ़ता रहता है। इसीलिए प्रत्येक युग, समाज अथवा व्यक्ति इतिहास का दर्शन अपने प्रश्नों के दृष्टि-बिंदुओं से करता रहता है। यह सब होते हुए भी साधनों का वैज्ञानिक अन्वेषण तथा निरीक्षण, कालक्रम का विचार, परिस्थिति की आवश्यकताओं तथा घटनाओं के प्रवाह की बारीकी से छानबीन और उनसे परिणाम निकालने में सतर्कता और संयम की अनिवार्यता अत्यन्त आवश्यक है। उनके बिना ऐतिहासिक कल्पना और कपोल-कल्पना में कोई भेद नहीं रहेगा।

इतिहास के इस दर्शन पर विचार करने में गाँधी जी भी शामिल होते हैं। गाँधी जी

* लेखक इतिहासविद्, पुरातत्त्ववेत्ता एवं वरिष्ठ पत्रकार हैं।

राजाओं के विवरण को सच्चा इतिहास नहीं मानते थे। उन्होंने 'हिंद स्वराज' (पृ. 78) में लिखा, 'इतिहास (हिस्ट्री) जिस अंग्रेज़ी शब्द का तर्जुमा है, उसे सही मायने में बादशाहों या राजाओं की तवारीख़ कहा जाता है। हिस्ट्री में दुनिया के कोलाहल की ही कहानी मिलेगी। राजा लोग कैसे खेलते थे? कैसे खून करते थे? कैसे बैर करते थे, यह सब हिस्ट्री में मिलता है। भारत में इतिहास संकलन की शैली यूरोपीय शैली से भिन्न है। प्राचीन भारतीय इतिहास में भारत का उल्लास है, तत्कालीन समाज के सामूहिक स्वप्न हैं, ज्ञान के विविध क्षेत्र हैं, विज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र और समाजजीवन की मर्यादा है, यही नहीं मर्यादापालन में जुटे नायक भी हैं। बेशक इस इतिहास में भी युद्ध हैं, लेकिन भारतीय इतिहास जर, ज़मीन और जोरू के लिए हुए कथित युद्धों के कालक्रम का संकलन ही नहीं है। वर्तमान और अतीत का विस्तार है। जो हो गया वह इतिहास है, जो हो रहा है, सतत प्रवाही वर्तमान है, प्रजेन्ट कॉन्टीनुअस है, वह सब इतिहास ही बन रहा है। हमारे होने का कारण माता-पिता और पूर्वज हैं। वे न होते तो हम न होते। दर्शन और ज्ञान-विज्ञान मानवीय उपलब्धियाँ हैं। सभी उपलब्धियाँ भारतीय पूर्वजों का श्रमफल हैं न कि अंग्रेज़ी हुकूमत की देन।

भारतीय इतिहास भारतीय संस्कृति की सामूहिक स्मृति है। इसके लंदन विश्वविद्यालय के रीडर और इतिहासविद् ए.एल. बाशम ने लिखा है। उनके अनुसार पुरातन संसार के किसी भी भाग में मनुष्य के मनुष्य से तथा मनुष्य के राज्य से ऐसे सुन्दर एवं मानवीय सम्बन्ध नहीं रहे हैं जैसे की भारत में रहे। किसी भी अन्य प्राचीन सभ्यता में गुलामों की संख्या इतनी कम नहीं रही जितनी भारत में रही। न ही अर्थशास्त्र के समान किसी प्राचीन न्याय ग्रन्थ ने मानवीय अधिकारों की इतनी सुरक्षा की। मनु के समान किसी अन्य प्राचीन स्मृतिकार ने युद्ध में न्याय के ऐसे उच्चादर्शों की घोषणा भी नहीं की। हिंदूकालीन भारत के युद्धों के इतिहास में कोई भी ऐसी कहानी नहीं है जिसमें नगर के नगर तलवार के घाट उतारे गए हों अथवा शान्तिप्रिय नागरिकों का सामूहिक वध किया गया हो। (अद्भुत भारत : दी वण्डर दैट वॉज इण्डिया का हिंदी अनुवाद, पृ. 6-7)।

भारतीय इतिहास को यूरोपीय दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता। भारत की अपनी संस्कृति है और वर्तमान यूरोप की किसी भी संस्कृति से अधिक प्राचीन है। इस संस्कृति का विकास वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हुआ है, तर्क और दर्शन के मानकों से कूड़ा-करकट को अलग करने व सत्य को प्रगट करना ही इतिहास का संरक्षण और भारत का नज़रिया है। यूरोपीय इतिहास में आत्मा, संस्कार और संस्कृति की उपेक्षा हुई है। इतिहास की रचना में यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि उससे जो चित्र बनाया जाए वह निश्चित घटनाओं और परिस्थितियों पर दृढ़ता से आधारित हो। मानसिक, काल्पनिक अथवा मनमाने स्वरूप को खड़ा कर ऐतिहासिक घटनाओं द्वारा उसके समर्थन का प्रयत्न करना अक्षम्य दोष होने के कारण सर्वथा वर्जित है। यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि इतिहास का निर्माण बौद्धिक रचनात्मक कार्य है, अतएव अस्वाभाविक और असंभाव्य को प्रमाण-कोटि में स्थान नहीं दिया जा सकता। इसके सिवा इतिहास का ध्येय विशेष यथावत् ज्ञान प्राप्त करना है। किसी विशेष सिद्धान्त या मत की प्रतिष्ठा, प्रचार या निराकरण अथवा उसे किसी प्रकार का आन्दोलन चलाने का साधन बनाना इतिहास का दुरुपयोग करना है। ऐसा करने से इतिहास का महत्त्व ही नहीं नष्ट हो जाता, वरन् उपकार के बदले उससे अपकार होने

लगता है जिसका परिणाम अंततोगत्वा भयावह होता है।

भारत में यही कार्य लम्बे समय यूरोप के लोगों ने किया। ख़ासकर अंग्रेज़ों ने अपने शासन को जायज सिद्ध करने के लिए भारतीय इतिहास की सम्यक् दृष्टि को ही बदल दिया। उन्होंने अपने दृष्टिकोण को भारतीय इतिहास का दृष्टिकोण बनाकर उसे गम्य बनने की कोशिश की। इसमें वे काफ़ी हद तक सफल भी हो गये। भारतीयों के बीच एक पूरा यूरोपीय प्रभावित प्रबुद्धजन समूह विकसित कर दिया। उसने बिना किसी विश्लेषण और विवेचना के अंग्रेज़ों के शिक्षाविद् और भारत में तथाकथित आधुनिक शिक्षा के जनक टी.बी. मैकाले की कुत्सित मानसिकता को सीधे स्वीकार कर लिया। इसके साथ ही भारतीयता का अंग्रेज़ी संस्कार आरम्भ हो गया। इस कारण भारतीय इतिहास लेखन भी अंग्रेज़ी परम्परा से कर दिया गया। इसमें भी यह ध्यान रखा गया कि भारतीय को इतिहास कुछ इस प्रकार पढ़ाया जाए कि वे अपने गौरव को भूलकर मानसिक रूप अंग्रेज़ों के गुलाम बन जाएँ।

गाँधी जी ने 'हिंद स्वराज' (पृ. 78-79) में लिखा, दुनिया में इतने लोग आज भी ज़िन्दा हैं। यह बताता है कि दुनिया का आधार हथियार पर नहीं है, वरन् आत्मा, संस्कार और संस्कृति पर है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण तो यही है कि दुनिया में रक्तरञ्जित बर्बर युद्धों के बावजूद है, संस्कृतियाँ ज़िन्दा हैं और उनमें अपने होने का स्वाभिमान भी है। इसलिए लड़ाई के बल के बजाय दूसरा ही बल उसका आधार है। हज़ारों बल्कि लाखों लोग युगों से प्रेम को ही जीवन मानकर सुसंस्कृत जीवन बिता रहे हैं। करोड़ों कुटुम्बों का .... है। भारत की संस्कृति को वैष्णव, बौद्ध, आजीवक, आनन्दमार्गी, गौड़ीय, कबीर-जैसे पंथों के माध्यम से दुनिया ने अपनाया। इसके दम पर सैकड़ों राष्ट्र मेल-जोल से रहे और रह रहे हैं। इसको 'हिस्ट्री' नोट नहीं करती, 'हिस्ट्री' इसे सिर्फ़ दिखा सकती है। भारत में इतिहास को देखने का परिप्रेक्ष्य उसके दर्शन से तय किया जाना चाहिये। भारत के चिन्तनशील समाज ने जीवन को जीने के सरलतम रूपों को षट्दर्शन में समाहित किया और इसके इतर कोई भी दर्शन दुनिया में नहीं है जो कि स्वयं सम्पूर्ण रूप से मानव जीवन के चिन्तन को निरूपित कर सके या भारतीय दर्शन के अतिरिक्त कोई विचार पेश कर सके। समकालीन दर्शन में इतिहास के विश्लेषणात्मक व चिन्तनशील दर्शन के बीच एक अन्तर बनाया जाता है। इन प्रकारों के नाम विश्लेषणात्मक व चिन्तनशील दर्शन के बीच भेद भारत में सांख्यदर्शन से प्राप्त किए गए हैं। वहीं यूरोपीय चिन्तन की दृष्टि रैखिक है। हालांकि दोनों पहलुओं के बीच कुछ ऑवरलेप है, लेकिन आमतौर पर बहुआयामी और रैखिक– दोनों को विशिष्टता दी जा सकती है। आधुनिक पेशेवर इतिहासकार इतिहास के दर्शन के बारे में संदेह करते हैं। कभी-कभी इतिहास के महत्त्वपूर्ण दर्शन को इतिहासलेखन के तहत शामिल किया जाता है। इतिहास के दर्शन को दर्शन के इतिहास से भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए, जो उनके ऐतिहासिक सन्दर्भ में दार्शनिक विचारों के विकास का अध्ययन है।

भारतीय इतिहास का सही स्वरूप

'भारतवर्ष का इतिहास' लेखन गत तीन शताब्दियों में सिर्फ़ यूरोपीय दृष्टि से ही हुआ है। उसका

नमूना यह है कि एक व्यक्ति जिसने कभी भारत का दौरा नहीं किया, उसने भारत का इतिहास 'अद्भुत भारत' लिख दिया। जिस व्यक्ति को भारत, भारतीयता और उसके दर्शन की समझ नहीं, वह कैसे भारत को लिख सकता है। जिस यूरोप में जीवन रेखीय माना जाता हो, वह भारत के बहुआयामी जीवनवृत्त को कैसे अपने शब्दों में निरूपित कर सकता है। इतिहास का अपना दर्शन है। भारत में जीव-जगत् और अध्यात्म का पूर्ण प्रभाव राजनीति पर होता है। भारत में राजनीति दण्ड-आधारित थी। दण्ड की उत्पत्ति राज्य संस्था की उत्पत्ति के साथ हुई। मनुस्मृति (सप्तम अध्याय) और महाभारत (शान्तिपर्व 56.13-33) में यह कहा गया है कि मानव जाति की प्रारम्भिक स्थिति अत्यंत पवित्र स्वभाव, दोषरहित कर्म, सत्वप्रति और ऋतु की थी, जब न तो किसी राजा की स्थिति थी, न राज्य था, न दण्ड था, न दण्डी था और सभी लोग धर्म के द्वारा ही एक दूसरे की रक्षा करते थे।

न राज्यं न च राजासीत न दण्डो न च दाण्डिकः।
स्वयमेव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥

कृण्वन्तो विश्वमार्यम् तथा **स्वदेशो भुवनत्रयम्** अर्थात् समूचे विश्व को आर्य याने श्रेष्ठ बनायेंगे और तीनों लोक अपना ही देश हैं, ये मंत्र प्रारम्भ से ही भारतवासियों को पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देते रहे। इस विचार से जब भारत प्रेरित रहा तो उसका अपना इतिहास ही पूरे विश्व का इतिहास है। यहाँ न तो कोई प्रेस्टर जॉन है जिसे खोजना पड़े और न ही कोई यजिद जिससे जिहाद करना पड़े। भारत में सारे विचार और अधिकार आत्मा हैं। वह कभी भूत नहीं होती, वह भूत, वर्तमान और भविष्य– तीनों में समान है, इसलिए हमारे लेखन में समय-सारिणी का महत्त्व कभी रहा ही नहीं। अब कोई यह कहना चाहे कि आप जो कह रहे हैं उसे सच कैसे मानें, तो संस्कृति की आत्मा का पता लगाकर उसी के अन्दर घटनाओं का समन्वय ढूँढ़े सत्य अपने आप प्रगट हो जाएगा। वहीं जो वैज्ञानिक विचार भारतीय दर्शन प्रस्तुत करता है, उसे भी गहराई से समझे; क्योंकि विज्ञान का मूल आधार परिकल्पना (हाईपोथिसिस) है।

पश्चिम विज्ञान का मूल आधार भी परिकल्पना है। अगर इसे पश्चिम के दर्शन या विज्ञान से हटा दें, तो वह बिना आत्मा का शरीर बन जाएगी। ऐसे में भारतीय दर्शन की हाइपोथिसिस के पुख़्ता प्रमाणों का नकारना सिर्फ़ किसी एकपक्षीय विचार को स्वीकारने के समान है। ऐसे में भारत का इतिहास उसके दर्शन से लिखा जाना चाहिए न कि यूरोपीय तरीके से। इसलिए इसके पुनर्लेखन की महती आवश्यकता है।

वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं कि भारत को जो कुछ यूरोप ने समझा है, उसी से यहाँ का इतिहास उन्होंने लिखा है। पश्चिम की आधुनिक सभ्यता में राजनीति और राजवंश नगरों में पनपते हैं, इसलिए वहाँ की संस्कृति में भी नगरों का बड़ा प्रभाव है। शहरों ने ही उसकी किस्मत की उलट-पुलट में बड़ा हिस्सा लिखा है। बिना ऐसे सर्वाभिभावी शहर की कल्पना के पश्चिमी सभ्यता अचिन्त्य है। यहाँ के प्राचीन इतिहास में भी उसी राजसत्ता और नागरिक जीवन को ढूँढ़ने का सबसे अधिक प्रयास यूरोप के इतिहासकारों ने किया जबकि प्राचीन भारतीय संस्कृति जनपदों, ग्रामों और जंगलों में फूली-फली थी। सर्वभक्षी राजसत्ता से उसका जीवन सर्वथा मुक्त

था, तो भी अब तक के प्रायः सब ही इतिहास-ग्रन्थों में राजवंश, नृपचरित्र, साम्राज्य और सैनिक-विजय की ही प्रधान चर्चा है।

संस्कृति के **जायतेऽस्ति-विपरिणमते-वर्धते-अपक्षीयते विनश्यति** आदि विकास की ओर अभी ध्यान नहीं दिया गया। संस्कृति के जीवन के विविध उन्नति क्रम का दिग्दर्शन नहीं हुआ। उसके उषाकाल में जिस आत्मा ने अंगी बनकर संस्कृति में जन्म लिया था, उसको सामने रखकर पिछली घटनाओं की समीक्षा अभी होनी बाकी है। यह जान लेना पहली आवश्यकता है कि भारतीय संस्कृति (या अन्य कोई प्राचीन संस्कृति) उसी तरह हाड़-मांस से सम्पन्न थी, जैसे हमारा वर्तमान जीवन। उसके कार्यकलापों में उतना ही मानवी अभिरुचि का मसाला है, जैसा वर्तमान के अध्ययन में। अपने कल्पित युगविभाग की स्कीम में भारतीय संस्कृति को एंशेंट में डालकर उसे मुर्दा समझना इतिहास के साथ अन्याय है।

संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन उच्च इतिहास है। ऐसा करने से हम मिस्र, यूनान, भारत, चीन, यूरोप आदि की संस्कृतियों को तुलना के बराबर दर्जे पर ले आते हैं। ऐतिहासिकता देश के पक्षपात से ऊपर उठ जाती है लेकिन उसे काल के मोह से भी ऊपर उठना चाहिए। आधुनिक समय में जो हो रहा है, वहीं सभ्यता है, तथा इससे पहले लोग यथापूर्व बर्बरता के युग के समीप थे, एकदम गलत है। सब संस्कृतियों को पृथक अस्तित्वयुक्त मानकर और मानव या चेतन मानकर उनकी आयु के वसंतकाल की एक कोटि में रखा जाए, उनके मध्यकाल या ग्रीष्मकाल को एक साथ रखा जाय, तथा शरदकाल या अन्तिम अवनति-काल को एक साथ मिलाया जाए। इस प्रकार सबका समान महत्व तो प्रकट होगा ही, साथ ही उन्नति और अवनति के सामान्य नियमों का भी आविष्कार हो सकेगा। एक विश्व-सूत्रात्मा अनेक संस्कृतियों के रूप में भिन्न देश और कालों में अपने स्वरूप को प्रकट कर रही है। अमुक वस्तु महत्त्व की या सच्ची और अमुक असली रूप से बहुत दूर हटी हुई है। इस प्रकार का विवेक बहुत कठिन है। कुछ संस्कृतियाँ अभी घुटनों चल रही है, कुछ अभी उत्पन्न होने को बाकी हैं।

वेद और इतिहास

भारतीय इतिहास बोध के प्रमाण विश्व के प्राचीनतम ज्ञान अभिलेख ऋग्वेद में हैं। ऋग्वेद का नारदीय सूक्त सुदूर अतीत (इतिहास) जानने की गहनतम जिज्ञासा है। वैदिक साहित्य में गाथा, नाराशंसी, आख्यान, आख्यिका आदि के उल्लेख हैं। अथर्ववेद (12.6.11) में सीधे इतिहास शब्द का ही प्रयोग हुआ है, **तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च, नाराशंसीश्चानुव्य चलन्।** छान्दोग्योपनिषद् में नारद ने सनत्कुमार को स्वयं द्वारा पढ़े गए विषयों में इतिहास को भी शामिल किया है। यास्क ने नाराशंसी को व्यक्ति की प्रशंसावाले मन्त्र बताया है।

मोनियर विलियम ने आख्यान को प्राचीन काल में घटित घटना से जुड़ा संवाद बताया है। ऐतरेयब्राह्मण (3.25.1) में 'आख्यानविद्' का उल्लेख है। वैदिक काल में रचे गए ब्राह्मण-ग्रन्थों– शतपथ, जैमिनीय और गोपथ में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग हुआ है। पुराणों में इसका विस्तार है, पार्जीटर ने पुराणों को इतिहास की सामग्री से भरापूरा बताया है। कौटिल्य ने

विश्वविख्यात ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र को इतिहास बताया है– **पुराणमितिवृतमारिव्यको दाहरणं धर्मशास्त्रमर्थशास्त्रं चेतिहासः**। ऋग्वेद से लेकर समूचे वैदिक साहित्य, पुराण, रामायण व महाभारत तक प्राचीन भारतीय इतिहास का विस्तार है।

कालनिर्धारण और पश्चिमी जगत्

पश्चिम की इतिहास के कालनिर्धारण की प्रवृत्ति अपने चरम पर है। इतिहास के रूप में अवसर्पी जगत् को उसने अत्यधिक समझने की कोशिश की है, फिर भी अभी इतिहास-दर्शन का जन्म वहाँ नहीं हुआ। दर्शन ही सब ज्ञान की पराकाष्ठा है। विद्या का पर्यवसान दार्शनिक विमर्श में होता है। इतिहास देश-काल के पक्षपातों से नहीं बच पाते। दर्शन सार्वभौम होता है। इतिहास-दर्शन की उत्पत्ति के बिना यह असम्भव है कि हम सब देशों ओर सब संस्कृतियों के साथ न्याय कर सकें। इसके लिए भारत में दर्शन का प्रयोग किया गया। यहाँ पर इतिहास में धर्म और आस्था को अलग पक्ष में रखा गया लेकिन यूरोप में धर्म और आस्था दर्शन में एक रूप में नज़र आती है। वहाँ पर सिर्फ़ एक शब्द 'रिलीजियन' ही सभी परिभाषाएँ गढ़ देता है। वहीं भारतीय शास्त्रों में धर्म आचरण का विषय हैं, वहीं आस्था जीवन को निगमित करने का। आस्था जीवन के सभी पहलुओं को नियन्त्रित करनेवाले उस चेतना के प्रति है जिस परमपिता, परमेश्वर या पुरुत्तोत्तम जो भी कहें, सत्य है। वही धर्म जीवन में प्रत्येक पक्ष में नैतिक आचारण का नाम है। इसलिए भारतीय इतिहास की दृष्टि भी धर्म और आस्था के मेल से नहीं निरपेक्ष अध्ययन से होती है। वहीं यूरोपीय दर्शन की दृष्टि रिलीजियन पर आकर रैखिक है। वहाँ पर नैतिकता और आस्था या कहें धर्म और आस्था– दोनों ही एकसाथ ईश्वरीय विषय बना दिए जाते हैं।

भारतीय नज़रिये से इतिहास का अध्ययन करने की यूरोप में शुरूआत सर्वप्रथम जर्मनी में हुई। वहाँ के विद्वान् आसेवाल्ड स्पेंगलर हैं। आपकी पुस्तक 'डिक्लाइन ऑफ़ द वेस्ट' में जब लिखा कि इतिहास को देखने का उनका नज़रिया ही ग़लत है, तो इसने यूरोप के विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। यह विषय इतना गम्भीर था कि स्पेंगलर के ग्रन्थ में लोगों ने ग़लतियाँ ढूँढ़ने के लिए पूरा ज़ोर लगा दिया, लेकिन कोई भी उसके मूल सिद्धान्तों के आगे सिर झुकाए बिना न रहा। इस प्रकार भारतीय इतिहास का अध्ययन करने से ही पहली बार यह बात समझ में आ सकती है कि भारतीय संस्कृति पर अन्दर-ही-अन्दर पश्चिम की कैसी गहरी छाप लग गयी। स्पेंगलर ने कहा कि भारत के इतिहास को घटनाक्रम से नहीं पढ़ें। उसे पढ़ने के लिए उसका सामाजिक और आर्थिक इतिहास देखना ज़रूरी है। यहीं से दर्शन और आस्था का प्रवेश इतिहास में हो जाता है। जैसे ही सामाजिक इतिहास का अध्ययन होता है तो वह राजमहलों के गज़ट से निकलकर धर्मस्थलों की चौखट पर आ खड़ा होता है। भारत का इतिहास भी कुछ ऐसा ही है। जहाँ पर विदेहराज जनक सीरध्वज के दरबार में विद्वान् याज्ञवल्क्य और ब्रह्मवादिनी गार्गी तर्क करते हैं तो राजदण्ड भी उसे स्वीकार करता है। वहीं राजा अगर जनविरोधी हो जाए, तो विदेह में जनक कराल को आत्महत्या करनी पड़ती है। इतिहास का ऐसा स्वरूप विश्व में कहीं देखने को नहीं मिल सकता है। स्मरण रखना चाहिए कि इतिहास न तो साधारण परिभाषा के अनुसार विज्ञान है और न केवल

काल्पनिक दर्शन अथवा साहित्यिक रचना है। इन सबके यथोचित सम्मिश्रण से इतिहास का स्वरूप रचा जाता है। यही भारतीय इतिहास का लेखन है।

इस लेखन को समय-समय पर विदेशी आक्रांताओं ने प्रमाणों के आधार पर नकारने का प्रयास किया, लेकिन वे स्वयं ही भूल गए कि उनका ही इतिहास, ख़ासकर धार्मिक इतिहास कपोल कल्पनाओं पर आधारित है। इन आक्रांताओं के धार्मिक इतिहास को देखें, तो वह इजिप्ट (मिस्र), मेसोपोटामिया (ईराक और लेवेंट), सुमेरिया (इराक) और बेबिलोनिया (इराक और मध्य एशिया) की साझी सांस्कृतिक विरासत का अटपटा मिश्रण था। वहीं आजकल के इराक क्षेत्र यानि प्राचीन मेसोपोटामिया में 2300-2100 ईसापूर्व के दौरान अक्कदों (सेमेटिक) ने सुमेर पर प्रभुता हासिल की, लेकिन अक्कद के पतन के बाद सुमेर फिर से मज़बूत हुआ। माना जाता है सुमेर के शासक सेमेटिक नहीं थे अर्थात् आज के यहूदियों, ईसाइयों या अरब के मुसलमानों के पूर्वज नहीं थे। सुमेरी तथा अक्कदी (सेमेटिक) भाषाओं के बीच आदान-प्रदान के प्रमाण अरबी और हिब्रू– दोनों में ही मिल जाते हैं। इन सभी के सम्मिलित स्वरूप से ही यूरोप की क्रिश्चियन हिस्ट्री का निर्माण हुआ। इस कारण कई बार लगता है कि यूरोप के इतिहास का आधार यूनान और मिस्र की सभ्यता में है, लेकिन इसकी घालमेल तो खुद के व्हाइट मेंस बर्डन को साबित करने के लिए यूरोपियों ने 16वीं शती से 18वीं शती के बीच में की। इस दौरान वे पूरे विश्व पर अपनी अनैतिक व्यावसायिक राजनीति से छा गए। उन्होंने उन सभी पुरानी सभ्यताओं को बर्बर और अल्पविकसित साबित करने के लिए स्वयं एक फुटबॉल का मैदान बनाया और दोनों टीमें भी अपनी रखीं। इसके बाद सभी खिलाड़ियों को एक-एक बॉल पकड़ा दी। अब गोल होने सत्य या असत्य– दोनों दावों से बाहर हो गया। यही सब यूरोपियों ने विश्व के इतिहास के साथ कर दिया। वरना वे तो किसी कापोल-कल्पित प्रेस्टर जॉन की खोज में दुनिया की यात्रा को निकले थे। जब विश्व के किसी विकसित भाग में पहुँचते, तो उसे अपनी खोज बता देते। इस प्रकार इतिहास का सही स्वरूप ही गुम हो गया। अब तो सिर्फ़ तर्क पर ही पूरी दुनिया का इतिहास ज़िन्दा है।

अब यूरोप में इतिहास के मुख्य आधार युगविशेष और घटनास्थल के वे अवशेष हैं जो किसी-न-किसी रूप में प्राप्त होते हैं। जीवन की बहुमुखी व्यापकता के कारण स्वल्प सामग्री के सहारे विगत युग अथवा समाज का चित्र निर्माण करना दुःसाध्य है। सामग्री जितनी ही अधिक होती जाती है, उसी अनुपात से बीते युग तथा समाज की रूपरेखा प्रस्तुत करना साध्य होता जाता है। पर्याप्त साधनों के होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि कल्पनामिश्रित चित्र निश्चित रूप से शुद्ध या सत्य ही होगा। इसलिए उपयुक्त कमी का ध्यान रखकर कुछ विद्वान् कहते हैं कि इतिहास की सम्पूर्णता असाध्य-सी है, फिर भी यदि हमारा अनुभव और ज्ञान प्रचुर हो, ऐतिहासिक सामग्री की जाँच-पड़ताल को हमारी कला तर्क प्रतिष्ठत हो तथा कल्पना संयत और विकसित हो, तो अतीत का हमारा चित्र अधिक मानवीय और प्रामाणिक हो सकता है। सारांश यह है कि इतिहास की रचना में पर्याप्त सामग्री, वैज्ञानिक ढंग से उसकी जांच, उससे प्राप्त ज्ञान का महत्त्व समझने के विवेक के साथ-ही-साथ ऐतिहासक कल्पना की शक्ति तथा सजीव चित्रण की क्षमता की आवश्यक है। यह सभी सिर्फ़ किसी प्राथक्कन का आभासी चित्रण है, उसे कितना सही माना जाए

वह भी तर्क की कसौटी पर कसा जाना चाहिये।

भारत में काल की परम्परा

ऋग्वेद के ऋषि किसी नूतन पथ की स्थापना नहीं करते। ऋषि प्राचीन परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं। इस परम्परा का मूल तत्त्व है ऋग्वेद में आया शब्द **ऋत**। ऋत-जैसा अर्थ देनेवाला शब्द दुनिया की किसी भाषा में नहीं है। पश्चिमी दर्शन और विचार-सारिणी में आए 'लेक्स नेचुरलीज' और 'आर्चीटाइप' शब्द ऋत के करीबी हैं, लेकिन ऋत नहीं है। ऋत ब्रह्माण्डीय संविधान है। यही दैव है, दैवीय है, अणिमा (माईक्रो), महिमा (माईक्रो) और दिव्यता भी है। ऋग्वेद (10.190) में प्राचीन इतिहास का आदि बिन्दु है। ऋषि सृष्टि-सर्जन के क्षण से पृथ्वी की निर्मिति तक का इतिहास बताते हैं। ऊष्मा से ऋत सत्य की उत्पत्ति हुई। घोर अंधकार, फिर समुद्र, फिर संवत्सर और दिन, रात, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी, अंतरिक्ष बने। ऋत सत्य एक ही है। मुण्डकोपनिषद् में **सत्यमेव जयति नानृतम्** मन्त्र है। **नानृतम्** वस्तुतः **न अन् ऋतम्** है। जो ऋत नहीं है, वही 'अनृत' है, झूठ है। ऋत, सत्य और धर्म भी एक ही है। भारतीय इतिहास बोध में राष्ट्र का गौरवबोध है, ऋत सत्य का आत्मबोध भी है। गाँधी जी के चित्त में इतिहास की ऐसी ही निष्ठा थी। लेकिन यूरोपीय तर्ज़ के इतिहास में ऋत सत्य के विपरीत कलह और कोलाहल को ही प्रमुख महत्त्व मिलता है। उन्होंने लिखा कि जब इस दया की, प्रेम की और सत्य की धारा रुकती है, टूटती है, तभी इतिहास में वह लिखा जाता है। एक कुटुम्ब के दो भाई लड़े। इसमें एक ने दूसरे के ख़िलाफ़ सत्याग्रह का बल काम में लिया। दोनों फिर से मिल-जुलकर रहने लगे। इसका नोट कौन लेता है? (हिंद स्वराज, पृ. 79)। यूरोपीय तर्ज़ का इतिहास सत्य-आग्रही को महत्त्व नहीं देता। झगड़ा-लड़ाई ही महत्त्वपूर्ण है। गाँधी जी ने लिखा, अगर वक़ीलों की मदद से या दूसरे कारणों से वैरभाव बढ़ता और वे हथियारों या अदालतों (अदालत एक तरह का हथियार-बल, शरीर बल ही है) के ज़रिये लड़ते, तो उनके नाम अख़बारों में छपते, अड़ोस-पड़ोस के लोग जानते और शायद इतिहास में भी लिखे जाते। (वही, पृ. 79)। गाँधी जी की बात 21वीं शती में भी जारी है। अम्बानी बंधु लड़ते हैं, मुक़दमेबाजी करते हैं। प्रिन्ट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के हीरो बन जाते हैं। यूरोपीय तर्ज़ की इतिहास-शैली राजाओं की वंशावली बनाती है। युद्धों को विशेष महत्त्व देती है। सिकन्दर कोई बड़ा राजा नहीं था, न वीर था, न पराक्रमी था, लेकिन इतिहासकारों ने उसे महानायक और 'दी ग्रेट' बनाया। ब्रिटेन का इतिहास राजाओं का इतिहास है। इस इतिहास को विशेषज्ञ ही जान पाते हैं।

भारत के 'दी ग्रेट' हैं सत्यं शिवं सुन्दरम्

भारत का इतिहास का सही स्वरूप जनश्रुति में है। राजा हरिश्चन्द्र भारत के गाँव-गली तक अपनी सत्यनिष्ठा के लिए चर्चित हैं। राम भी राजा थे। भारत के अशिक्षित भी 'रामराज्य' के प्रशंसक हैं। गाँधी जी रामराज्य का स्वप्न देखते थे। यूरोपीय इतिहास में राजा राम, राजा हरिश्चन्द्र, ध्रुव, प्रह्लाद या लोकमन में घट-घट व्याप्त श्रीकृष्ण-जैसे इतिहासनायक नहीं हैं। बेशक ख्यातनाम लोग यूरोप में भी हैं, पर लोकमन और लोकस्मृति में इतिहास संजोने का भारतीय इतिहास का अंदाज़ निराला

है। यूरोपीय इतिहासकार और उनके पिछलग्गू कतिपय भारतीय विद्वान्, आर्यों को विदेशी बताते हैं। विश्वविद्यालय यही इतिहास पढ़ा रहे हैं, लेकिन भारत की श्रुति, स्मृति, गीत, गाथा, आख्यायिका और लोककथाओं में आर्य विदेशी नहीं हैं। सो कोई भी भारतीय आर्यों को विदेशी नहीं मानता, नहीं जानता। यूरोपीय इतिहास शैली अस्वाभाविक है। गाँधी जी ने 'हिंद स्वराज' में ठीक लिखा कि 'हिस्ट्री अस्वाभाविक बातों को दर्ज़ करती है।'

इतिहास को देखने की यूरोपीय दृष्टि

भारत में सन्दर्भ-दृष्टि, ज्ञान और शिक्षण– तीनों ही अलग-अलग और स्पष्ट विभाग रहे हैं। इन्हें प्रस्तुत करनेवाला भले ही एक रहा हो लेकिन उसने किसी भी विषय की दूसरे में घालमेल नहीं होने दी। वहीं यूरोप में इन तीनों का घालमेल हो गया। इसलिए उनका दर्शन रैखिक दिखाई देता और इतिहास भी। इसका उदाहरण अरिस्टोटल (384-322 ई.पू.) ने इतिहास पर साहित्य की श्रेष्ठता बनाए रखी; क्योंकि साहित्य जन विचारों का दर्शन है। वहीं उसने केवल सत्य के बजाय क्या होना चाहिए या क्या सत्य होना चाहिए, इस पर अधिक ध्यान दिया। इस कारण यूरोप का सम्यक् इतिहास रैखिक हो गया और उन्होंने कभी भी इतिहास को समग्र दृष्टि से देखा ही नहीं। उन्होंने इसे पढ़ने के लिए यूनानी और रोमन दर्शन को सर्वश्रेष्ठ मानकर दुनिया की अन्य सभ्यताएँ, जो उनसे अधिक विकसित थी, को अपने रैखिक चश्मे से देखकर अध्ययन कर दिया। भारतीय इतिहास के साथ भी उनका यह व्यवहार घातक रहा। इससे भारतीय सभ्यता और उन्होंने करीब 5,000 साल में बाँधने का प्रयास किया और उसके जीवन-दर्शन को समझने में भी भूल की। जहाँ भारतीय जीवन-दर्शन, अध्यात्म, जीवन-मूल्य और विज्ञान का समूहिक प्रतिपादन था, वहीं यूरोपीय दर्शन सिर्फ़ अध्यात्म को ही निरूपित कर पाया। सक्रेटीस के समकालीन पाँचवीं शताब्दी ई.पू. में हेरोदोटस जो कि होमर की परम्परा के अनुसार श्रुति से पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान बढ़ाने की परम्परा से हटा और उसने इसे कथा का रूप दे दिया। श्रुति से पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान बढ़ाने की परम्परा को ग्रीक में 'हिस्ट्रीज' कहा गया। हमारी परम्परा में होमर-जैसे लोगों को भाट, बड़वा या चारण कहकर पुकारा गया जो कि परम्परागत रूप से हमारे पीढ़ियों की जानकारी रखते थे और रखते हैं।

इतिहास को देखने का परिप्रेक्ष्य उसके दर्शन से तय किया जाना चाहिए। भारत के चिन्तनशील समाज ने जीवन को जीने के सरलतम रूपों को षट्दर्शन में समाहित किया और इसके इतर कोई भी दर्शन दुनिया में नहीं है जो कि स्वयं सम्पूर्ण रूप से मानव जीवन के चिन्तन को निरूपित कर सके या भारतीय दर्शन के अतिरिक्त कोई विचार पेश कर सके। समकालीन दर्शन में इतिहास के विश्लेषणात्मक व चिन्तनशील दर्शन के बीच एक अंतर बनाया जाता है। इन प्रकारों के नाम विश्लेषणात्मक व चिन्तनशील दर्शन के बीच भेद भारत में सांख्यदर्शन से प्राप्त किए गए हैं। पूर्व में स्वयम् अध्ययन करता है जबकि उत्तरार्ध विज्ञान के दर्शन के प्रति के बराबर है। हालांकि दोनों पहलुओं के बीच कुछ ऑवरलेप है, लेकिन आमतौर पर उन्हें विशिष्टता दी जा सकती है। आधुनिक पेशेवर इतिहासकार इतिहास के दर्शन के बारे में संदेह करते हैं। कभी-कभी इतिहास के महत्त्वपूर्ण दर्शन को इतिहासलेखन के तहत शामिल किया जाता है। इतिहास के दर्शन को

दर्शन के इतिहास से भ्रमित नहीं किया जाना चाहिए, जो उनके ऐतिहासिक सन्दर्भ में दार्शनिक विचारों के विकास का अध्ययन है।

चक्रीय और रैखिक इतिहास

कथात्मक इतिहास रैखिक प्रगति की धारणा का पालन करता है। ऐसा हुआ, और फिर ऐसा हुआ, ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि यह पहले हुआ था। कई प्राचीन संस्कृतियों में इतिहास और समय की पौराणिक अवधारणाएँ थीं जो रैखिक नहीं थीं। इस तरह के समाजों ने डार्क और गोल्डन युग के साथ इतिहास को चक्रीय के रूप में देखा। प्लेटो ने महान् वर्ष की अवधारणा को पढ़ाया, और अन्य यूनानियों ने एओन्स (ईन्स) की बात की। इसी तरह के उदाहरणों में शाश्वत वापसी का प्राचीन सिद्धान्त शामिल है, जो प्राचीन मिश्र में, भारतीय धर्मों में, यूनानी पाइथागोरियन और स्टइक्स की धारणाओं में शामिल था। अपने काम और दिनों में, हेसियोड ने पाँच युग के पुरुष स्वर्ण युग, रजत युग, कांस्य युग, वीर युग, और लौह युग का वर्णन किया, जो डोरियन आक्रमण के साथ शुरू हुआ। चार साल की उम्र वैदिक या हिंदू युग से मिलती है जिसे कलि, द्वापर, त्रेता और सत्य युग के नाम से जाना जाता है। जैन धर्म के अनुसार, इस दुनिया में कोई शुरूआत या अंत नहीं है, लेकिन लगातार उत्थान और मंदी के चक्रों के माध्यम से चला जाता है। कई यूनानियों का मानना था कि जैसे ही मानव जाति ने चरित्र के चार चरणों और इतिहास के पतन के दौरान चार चरणों के माध्यम से गुजरना शुरू किया था। उन्होंने लोकतंत्र व राजशाही को उच्च उम्र के स्वस्थ शासन के रूप में माना और कुलीन वर्ग और अत्याचार, कम उम्र के लिए।

पूर्व में, चीन में और इब्न खलदुन (1332-1406) के काल में इस्लामी दुनिया में इतिहास के चक्रीय सिद्धान्त विकसित हुए। ईडन गार्डन से मनुष्य के पतन की कहानी, जैसा कि यहूदी और ईसाई-धर्म में बताया गया है और विस्तारित है, एक नैतिक चक्र के निशान को संरक्षित करता है। यह उन संस्थाओं के लिए आधार प्रदान करेगा जो एक ईश्वर के अस्तित्व के साथ दुनिया में बुराई के अस्तित्व को सुलझाने का प्रयास करते हैं, जो आगामी मसीही युग में विश्वास के साथ इतिहास का वैश्विक स्पष्टीकरण प्रदान करते हैं। कुछ सिद्धान्तों ने दावा किया कि इतिहास में एक प्रगतिशील दिशा थी जो एक एसकॅटलॅजिक अंत की ओर अग्रसर था, जैसे एक श्रेष्ठ शक्ति द्वारा आयोजित कयामत के सिद्धान्तों को तैयार किया, लेकिन लिबनिज (1646-1716) ने पर्याप्त कारण के साथ इस सिद्धान्त पर अपनी व्याख्या प्रस्तुत की। जिसमें कहा गया है कि जो भी होता है, एक विशिष्ट कारण के लिए होता है। इस प्रकार, जबकि मनुष्य कुछ घटनाओं को बुराई (जैसे युद्ध, महामारी और प्राकृतिक आपदाओं) के रूप में देख सकता है, वास्तव में ऐसा निर्णय केवल मानवीय धारणा को दर्शाता है। अगर किसी ने भगवान् के दृष्टिकोण को अपनाया, तो वास्तव में केवल बुराई घटनाएँ बड़ी दैवीय योजना में हुईं। इस तरह से श्रोताओं ने एक सापेक्ष तत्त्व के रूप में बुराई की आवश्यकता को समझाया जो इतिहास की एक बड़ी योजना का हिस्सा बनता है। पर्याप्त कारणों के लिबनिज का सिद्धान्त, हालांकि, घातकवाद का संकेत नहीं था। भावी दलों की प्राचीन समस्या से सामना करते हुए, लिबनिज ने निर्धारिती की समस्या का सामना करने के लिए, 'असम्भव दुनिया' के सिद्धान्त का आविष्कार किया, दो प्रकार की आवश्यकता को अलग

किया।

ओसवाल्ड स्पेंगलर (1880-19 36), निकोले डेनिलेव्स्की (1822-1885), और पल केनेडी (1 945-) जैसे लेखकों के कार्यों में उन्नीसवीं व बीसवीं शताब्दी में चक्रीय अवधारणाएँ जारी रहीं, जिन्होंने मानव अतीत को पुनरावृत्ति की शृंखला के रूप में माना। बटरफील्ड की तरह स्पेंगलर ने 1914-1918 के प्रथम विश्वयुद्ध के नरसंहार की प्रतिक्रिया लिखते समय माना कि एक सभ्यता उसकी आत्मा मरने के बाद कैसरिज्म के एक युग में प्रवेश करती है। स्पेंगलर ने सोचा कि पश्चिम की आत्मा मर गई थी, और कैसरवाद शुरू होनेवाला था। वहीं भारतीय इतिहास में आत्मा अमर है और उसका स्वरूप बदलता है। यहाँ कोई युग राज्य, राष्ट्र और सत्ता निर्धारित नहीं करती। वह समयातीत गणना पर आधारित है। इसके लिए कोई ज़िम्मेदार नहीं है। यह प्रकृतिप्रदत है और उसका अनुसन्धान सम्भव है, आविष्कार नहीं। दीर्घकालिक धर्मनिरपेक्ष समाजशास्त्रीय चक्रों के गणितीय मडल के विकास ने इतिहास के चक्रीय सिद्धान्तों में रुचि को पुनर्जीवित किया। इस प्रकार स्पेंगलर ने इतिहास के भारतीय सिद्धान्त को परोक्ष रूप से स्थापित कर दिया। लेकिन यूरोप का अहम पूर्ण इंटलेक्चुअलिज्म उसे स्वीकार नहीं कर पाया।

सतत इतिहास

'सस्टेनेबल हिस्ट्री एण्ड द डिग्निटी ऑफ़ मैन' नायफ अल-रोहन द्वारा प्रस्तावित इतिहास का एक दर्शन है, जहाँ इतिहास को एक टिकाऊ प्रगतिशील प्रक्षेपवक्र के रूप में पारिभाषित किया गया है जिसमें इस ग्रह या अन्य सभी ग्रहों पर जीवन की गुणवत्ता मानव की गारंटी पर आधारित है सभी परिस्थितियों में हर समय गरिमा के लिए गरिमा। यह सिद्धान्त इतिहास को अच्छे शासन द्वारा प्रेरित एक रैखिक प्रगति के रूप में देखता है, जो बदले में मानव प्रति के भावनात्मक, नैतिक और अहंकारी तत्त्वों को संतुलित करने के माध्यम से हासिल किया जा सकता है; क्योंकि मानव गरिमा के कारण, सुरक्षा, मानवाधिकार , ज़वाबदेही, पारदर्शिता, न्याय, अवसर, नवाचार और समावेश। यहीं भारतीय इतिहास के स्वरूप का वर्णन है। जिसे अब यूरोप के विद्वान् मानने का मज़बूर है। मानव गरिमा इस सिद्धान्त के दिल में निहित है और मानव जाति के सतत इतिहास को सुनिश्चित करने के लिए सर्वोपरि है। अन्य चीजों के अलावा, मानव गरिमा का मतलब स्वयं की सकारात्मक भावना है और समुदायों के सम्मान के साथ व्यक्तियों को प्रेरित करना है, जिनके वे सम्बन्धित हैं। इस प्रकार, मानव गरिमा की अनिवार्यताओं के साथ भावनात्मक रूप से आत्मरुचि वाले व्यवहार के लिए मनुष्यों की पूर्वाग्रह को सुलझाने से वैश्विक नीति-निर्माताओं को सबसे महत्त्वपूर्ण चुनौतियों में से एक माना जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर, उन्हें अपने नागरिकों को हिंसा के ख़िलाफ़ रक्षा करना है और उन्हें भोजन, आवास, कपड़े, स्वास्थ्य देखभाल और शिक्षा तक पहुँच प्रदान करना है। बुनियादी कल्याण प्रावधान और सुरक्षा मानव गरिमा सुनिश्चित करने के लिए मौलिक हैं। पर्यावरण और पारिस्थितिक विचारों को भी सम्बोधित करने की आवश्यकता है। अंत में, सभी समुदायों के सभी स्तरों पर सांस्कृतिक विविधता, समावेश और भागीदारी मानव गरिमा की प्रमुख अनिवार्यताएँ हैं।

सन्दर्भ :
मनुस्मृति (सप्तम अध्याय)
महाभारत (शांतिपर्व 56.13-33)
ऋग्वेद
अथर्ववेद, 12.6.11
ऐतरेयब्राह्मण 3.25.1
शतपथ, जैमिनीय और गोपथ ब्राह्मण
मुण्डकोपनिषद्
विष्णुगुप्त चाणक्य 'कौटिल्य', अथशास्त्र
इतिहास-दर्शन, वासुदेवशरण अग्रवाल, 1978, पृथ्वी प्रकाशन, वाराणसी
इतिहास-दर्शन, नारायण सिंह चूण्डावत, 1990, कंचन प्रकाशन, उदयपुर
वर्मा, लालबहादुर : इतिहास के बारे में, 1984
बुद्ध प्रकाश : इतिहास दर्शन, 1968
कार, ई.एच.: इतिहास क्या है, 1984
चौबे, झारखण्डेः इतिहास-दर्शन
पाण्ड्ेय, गोविन्दचन्द्रः इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त
स्पेंगलर ऑस्टवाल्ड, 'डिक्लाइन आफ द वेस्ट'
बाशम, ए.एल., अद्भुत भारत (दी वांडर दैट वाज इण्डिया का हिंदी अनुवाद), पृ. 6-7
गांधी, मोहनदास कर्मचन्द, हिंद स्वराज
अल्-बीरूनी, किताब-उल-हिंद
नायफ अल-रोहन, 'सस्टेनेबल हिस्ट्री एंड द डिग्निटी ऑफ़ मैन

सदस्यता-प्रपत्र

मेरी प्रति कुरियर ☐ रजिस्टर्ड डाक ☐ द्वारा इस पते पर प्रेषित की जाए :

नाम ....

पता.. ☐☐☐☐☐☐

....पिन

दूरभाष/मोबाइल...

ई-मेल...

वार्षिक सदस्यता-शुल्क ₹500/- ☐ 5-वर्षीय सदस्यता-शुल्क ₹2500/- ☐

संलग्न मनिऑर्डर ☐ चेक ☐ डिमाण्ड ड्राफ्ट ☐

चेक/ड्राफ्ट-क्रमांक.................... बैंक का नाम................ शाखा...........दिनांक............

चेक द्वारा ऑनलाइन भुगतान कर सकते हैं :

Centre for Civilisational Studies
Bank Name : ICICI
A/c No. 022705001874
IFSC Code : ICIC0000227

हस्ताक्षर एवं दिनांक

जातीय सद्भाव : भूत, वर्तमान और भविष्य

मधुकर रायचौधरी*

गतांक से आगे...

व्यक्ति ज्ञानी होने पर भी अपनी स्वभावजात प्रकृति के अनुसार ही काम करता है। सारे प्राणी अपनी प्रकृति को ही अनुसरण करते हैं। अतः निग्रहः अर्थात् शासन या निषेधादि क्या कर सकता है?

अब प्रश्न यह है– स्वभाव में जन्म से ही यह गुण आते कहाँ से है? यहाँ 'आस्तिकता' की आवश्यकता होगी। क्योंकि यह कारण इन्द्रियगोचर नहीं होता और वेद–प्रमाण इसी स्थल पर काम आती है।

प्रत्यक्षेनानुमित्या वा यस्तुपायो न विद्यते।
तद विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

शास्त्र कहता है–

पूर्वजन्मार्जितं यच्च कर्म पुंसां शुभाशुभम्।
तदेव सर्वजन्तुनां सृष्टिसंहारकारणम्॥

पूर्वजन्म के सञ्चित कर्मों के कारण ही जीवात्मा अपनी स्वभाव अनुसार अनुकूल पितृ–मातृ–जीण आदि का चयन करता है।

पूर्वकर्म के अनुकूल पितृ–मातृ का चयन करने से जीवात्मा अपनी पूर्वजन्मों में किया गया मानवीय व्यवहार व अभ्यास के अनुसार वैसा ही जीन/डीएनए पा लेता है जैसा उसका आगे का स्वभाव हो।

हां, यह ज़रूरी नहीं कि वही मूल स्वभाव उसके माता-पिता में ही रहे, बल्कि वह स्वभाव दो पीढ़ी पहले का भी उसमें आ सकता है। इसके लिए साइको-न्यूरो-इम्मयूनोलॉज़ी का कुछ और तथ्य मेरे पास संग्रहित है, जिनका विवरण हमें मूल व्याख्यान से दूर जीवविज्ञान-मनोविज्ञान की ओर ले जाएगा।

---

* लेखक क्लासिकल इण्डियन सायंसेस एण्ड योग स्टडी सेन्टर के कुलाध्यक्ष हैं।

मूलतः हमें यह पता चला कि पूर्वकर्म 'जन्म' नामक क्रिया को भी प्रभावित करता है और प्रकृति व स्वभाव जन्मगत होती है। अपितु, हमें यह भी पता चला कि स्वभाव के साथ जाति संबंधित है। अतः हम कह सकते हैं कि 'जाति' जन्मगत होती है, न की कर्मगत। अगर इसे 'कर्मगत' भी कहा जाय तो 'पूर्वकर्मगत' ही इसका तात्पर्य होगा।

हाँ, वर्तमान जन्म का कर्म, परिवेश भी जातिगत प्रकृति पर प्रभाव डालती है। इसके भी शास्त्रीय प्रमाण हम आगे जानेंगे।

जाति जन्मगत होने का कुछ और प्रमाण

1. परम्परा

परम्परा ज्ञान की एक प्रधान स्रोत है। शास्त्रसिद्ध आचरण जब परम्परा में रहे तो उसे सदाचार कहते हैं। यथा,

यस्मिन्देशे यः आचारः पारम्पर्यक्रमागत।
वणार्नां सान्तरालानां स सदाचार उच्यते॥

ध्यान दीजिए **पारम्पर्यक्रमागत**।

गीता में भी परम्परा से ज्ञान की धारा का उदाहरण आता है। यथा–

यवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयः विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥

ध्यान दीजिए– **परम्पराप्राप्तम्**।

भारतीय परम्परा में 'जाति' जन्मगत है। और यह मान्यता प्रत्यक्ष सत्य है। प्रत्यक्ष को किसी और प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। सहस्त्रवर्णों की परम्परा से भारत की हर कोने में यह व्यवहार आज भी प्रचलित है और मानित है। जबकि अज्ञानता के कारण आज इस परम्परा का अवश्रय हो रहा है। और 'अज्ञान' ही हमारी दुखों का (अप्रतिष्ठित विवाह आदि) कारण है। यथा– **अज्ञानेनावृत ज्ञान तेनमु'न्ति जन्तः**– गीता।

2. व्याकरणशास्त्र

क) जात - जन् + क्त (यथा, जातक, जाति का, आदि)

ख) सञ्जात - सम् + जन् + क्त

ग) जाति - जन् (जव इवतद) + क्तिन्।

3. अंग्रेजी के शब्द 'जेनेटिक्स' का मूल भी 'जन्म' में ही है। यह संस्कृत के जन् धातु से बनता है जिसका अर्थ जन्म, मूल या उत्पत्ति है। इसकी उत्पत्ति ग्रीक शब्द 'जेनेटिकोस' से हुई है जिसका अर्थ है मूल।

4. इनमें से सबसे स्पष्ट रूप कह रहे अष्टांग योग के सूत्र ग्रंथ पातञ्जल योगसूत्र के रचयिता महर्षि पतञ्जलि कहते हैं–

सति मूले तद्विपाको जात्यायूर्भोजः।

अर्थात् कर्मों के विपाक क्रिया मूल में रहने के कारण जीवों को जाति, आयु और भोग (सुख-दुःखादि) यह तीन फल प्राप्त होते हैं।

5. **जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः**

6. **प्राप्य पूण्यकृताल्नोकानुषित्वा शाश्वती समाः।**
शुचिनां श्रीमतां गेहे तत्र तत् बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयो।

7. **मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डवः॥** 16.5
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥ 16.3
तानहं द्विषतः कुरान्-आसुरीः योनिमापन्ना मूढ़ा जन्मनि जनानि मामप्राप्य

जो त्रिगुणात्मिका प्रकृति बुद्धि, मति आदि रूप में अपनी अर्जित गुणों के अनुसार जीवों को काम कराती, वह ही 'जाति' रूप में रहकर अनुवांशिक गुणों के आधार पर स्वभावज गुण-दोष से व्यक्ति को बांधती है। यथा,

या देवी सर्वभूतेषु 'जाति' रूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः॥

अतः कर्म प्रेरणा भी जन्मगत है। आज की प्रेरणाएँ अर्थात् नीम को शहद से सिञ्चन कर्म पूर्व-पूर्व पर्वत प्रमाण कर्मविपाक से उत्पन्न कर्मफल के सामने अर्थात् त्रिगुणमयी प्रकृति के सामने निष्क्रिय हो जाता है।

दैवी ध्येषा गुणमयी मम मया दुरत्यया।
ज्ञानीनामपि चेतांसि देवी भवगती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥
सैव प्रसूयते विश्वं जगदेतद् चराचरम्

इसलिए तमोगुण से अभिभूत निद्रालु आलस व्यक्ति से तुरन्त उसकी वर्तमान गुणों की छायी हुई दशा को काटकर केवल वाणी से (प्रेरक भाषण से) कठिन गणित की परीक्षा में बिठाया जाना सम्भव नहीं।

ऐसे ही झगड़ के आये हुए व्यक्ति को लोरियों से तुरन्त सुला देना सम्भव नहीं।

मूल प्रकृति दुरतिक्रमनीया, अलङ्घ्यवीर्या अनन्तवीर्या महाशक्ति चिद्रुपा च।

अतः कहा जाता है– **न च दैवात् परं बलम्।**

कमार्नुसारिणी जन्म, जन्मानुसारिणी जाति, पुनः जात्यानु-सारि कर्म और कमार्नुसारि पुनर्जन्म। यहीं 'भवचक्र' कहलाता है। अतः ब्राह्मण अंत में कर्म त्याग करें अर्थात् संन्यास लें–

यह शास्त्रों का वचन है। उस समय निष्काम कर्म ही कर्म त्याग है– यह आशय गीता में स्पष्ट है।

वर्तमान अवस्था का कारण–

म विशेषोऽस्ति वणार्नां सर्वं ब्राह्ममिद जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृषृं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥

–महाभारत

...... ते विप्राः क्षत्रतां गता।
...... ते विप्राः वश्यतां गता।
...... ते विप्राः शूद्रतां गता।

प्राचीन काल में अर्थात् सत्यादि युगों में मा कल्पारम्भ में सारे मनुष्य तथा अन्य प्राणी भी शम-दम आदि दैवी गुणों से सम्पन्न ब्राह्मण ही थे। **कर्मभिवर्णता गतम्** अर्थात् ब्राह्मणों का अधोगति ही अन्य वर्ण की उत्पत्ति की कारण बनी। यह बात अन्यत्र भी पाई जाती है। जैसे **देवता सर्व सत्ये सत्यपरा नराः देवायतनगा**। ब्राह्मण को भूदेव कहा जाता है। अतः प्राचीन काल में सारे मनुष्य देववत् थे अर्थात् ब्रह्मचर्यवान्, ब्रह्मध्यानपरायन ब्राह्मण थे। प्रत्येक मनुष्य की गोत्र भी किसी-न-किसी ऋषि के नाम पर हुआ करता है, जो उनकी आदि-स्वरूप को दशार्ते हैं।

रोग बढ़ने में जितना समय लेता है– उसकी उपचार में या उसको जड़ से मिटाने में उससे ज़्यादा समय लेता है। अन्य जातियों को पुनः ब्राह्मण बनाना और ब्राह्मणों को निष्काम बनाना शास्त्रों का अभिप्राय है। क्योंकि शास्त्रों में बताये गये ब्राह्मणोचित गुण ही मनुष्य का मौलिक स्वभाव है। वे निर्द्वन्द्व, नित्यसत्वस्थ, निष्काम आदि गुणों की अभ्यास करें। जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न व्यक्ति में यह सारे गुण कम पाई जाती है, उसे जन्मसूत्र से अर्थात् पूर्वजन्म की कर्मों के अनुसार ब्राह्मण तो माने पर इहजन्म के कर्मों के अनुसार उनकी ब्राह्मणत्व आगे रहेगा या नहीं, यह भी तय करें। शास्त्रों में ब्राह्मणों की स्वभाव कुछ इस प्रकार है–

येन केनचिद् अच्छन्नो येन केनचिद् आशितः।
यत्र क्वचने–शायी स्यात् तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

–महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 188

शास्त्र ब्राह्मणों की मूल स्वभाव से पतन का कारण भी निर्देशित करते हैं।

अनध्यनाच्च वेदानां निन्दितस्य च सेवनात्।
आलस्यादन्नदोषच्च मृत्युर्विप्तान् जिघांसति॥

–मनु संहिता

जन्म पूर्वकमार्नुसार दैवनियंत्रित है– इसमें किसी का कोई हाथ नहीं होता पर पुरस्कार (इच्छाशक्ति) इह जन्म का होता है जिस पर व्यक्ति का साक्षात-संबंध होता है।

अतः कर्ण कहते हैं– **दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्।**

दैव और पुरुष्कार भिन्न विषय है। इस पर कभी और आलोचना की जाएगी। पर यहाँ हम यह जान रहे हैं कि शास्त्रों में इस जन्म के कर्मों का भी कितना महत्त्व है। शास्त्र कहते हैं कि पूर्वकर्म के अनुसार कोई ब्राह्मण-स्वभाव अगर पा भी लेता है पर उसके अन्य दुष्कर्मों के लिए अगर उसे सही परिवेश न मिले (अर्थात् अगर उसके जन्मकाल और जन्म स्थान चयन में व्यतिक्रम हो) तो वह ब्राह्मण-सुलभ गुणों से कोसों दूर चला जाता है। क्योंकि जल और मन सहज ही ऊपर से नीचे की तरफ चला जाता है। इसके ऊर्ध्वगमन में कठिनाई आती है। अतः व्यक्ति जातिगत गुणों के साथ वर्तमान प्रयास को भी परीक्षा करें। यथा,

यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्नापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्॥

—श्रीमद्भागवतम्, 7.11.35

अगर वर्तमान कर्म सम्प्राप्त गुणों के अनुसार न किया जाए तो प्रकृति बदलने लगती है और सारे गुण धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं, अतः वर्तमान आचरण भी एक बड़ा कारण है। यथा,

न योनिनीपि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य तु कारणम्॥ उमा-महेश्वर संवाद।
शुद्धात्मा विजितेन्द्रिय शूद्रोऽपि द्विजवत् सेव्य इति ब्रह्माऽब्रवीत् स्वयम्।
ह्वृत्ते स्थितस्तु शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं नियच्छति

—महाभारतम्, अनुशासनपर्व, 144

इस जन्म का कर्म कैसे पूर्वार्जित सुकर्म को नष्ट करता है आइये देखें,

सघः पतति मांसेन लाघया लवनेन च।
ङ्खषहेन शूद्रीभवति ब्राह्मणः क्षीरविक्रयात्॥

—10.92

मांस, लाक्षा और नमक बेचने से ब्राह्मण तत्क्षणात् ही पतित होते हैं और निरन्तर तीन दिन दूध बेचने से शूद्रत्व प्राप्त कर लेते हैं।

इतरेषान्तु पण्यानां विक्रमादिल कामतः।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति॥

—10.93

अपने धर्म में (धर्म = शास्त्रनिर्दिष्ट कर्म) निष्काम भाव से रहना ही हमारी उन्नति का कारण बन सकता है पर स्वभावसिद्ध अपने कर्मों को छोड़कर अन्य जाति का कर्म करने से व्यक्ति जातिसुलभ गुण से नीचे चला जाता है। इस तरह शूद्र भी मलेच्छत्व, चण्डालत्व, यवनत्व को प्राप्त हो सकता है। यथा,

वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः। परधर्मेण जीवन् हि सघः पतति जातितः॥

—गीता, 10.97

गीता में भगवान भी दो बार यही कह रहे हैं–

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

–गीता 3/35

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधमीत् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विपम्॥

–गीता 10/47

तात्पर्य यह है कि स्वभावनियत या नियति से पाई गई स्वभाव अनुसार कर्म उन्नति का कारण बनता है।

वर्णाश्रम धमार्नुसार स्वभावनियत कर्म ही ईश्वराधना का श्रेष्ठ मार्ग है। यथा,

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यत् तत्तोषकारणम्॥

–विष्णुपुराण

इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक्

–भागवतपुराण, 11.18.43/45/46

ह्लविष्णुस्तुष्यति विप्तेन्द्रः कर्मयोगरतात्मनाम् वर्णाश्रमचारबता पूज्यते हरिरव्ययः।

–बृहन्नारदीयपुराण, 13.6.34

तो इस कड़ी में हमने जाना कि ब्राह्मणादि वर्ण अपने अपने आचरण को परित्याग करने के कारण सत्यधर्म व शाश्वत प्रकृतिज कर्मों का विलोप हो गया और उच्च कुल के व्यक्ति भी वेदों को समझने में अपारग हुए। वे वेदों की तात्पर्य न समझकर 'स्मृतिशास्त्र' को नकार दिए जो मैकाले, मैक्समूलर आदि का अभिसन्धि और अभिप्राय था। जैसे, मैक्समूलर अपनी पुस्तक चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप में कहते हैं, 'It then with all the documents befor us, we ask the question, does caste as we find it is Manu and at the present day, from part of the most ancient religions teaching of the Vedas? We can answer with a dicided 'No".

यह नास्तिकता अर्थात् वेदों में अविश्वास की देन है। पर मैक्समूलर, जो वैदिक परिवेश में बड़े ही नहीं हुए, से हमें वेदों पर विश्वास व आस्तिकता का आशा भी नहीं करनी चाहिए। भारतीय समाज संस्कारक बसव (1105-1167) भी कुछ ऐसे ही मत लेकर समाजसुधार करने के लिए आगे बढ़कर आए। ज्योतिराव फुले (1827-1890) के बारे में सन्दर्भ कहते हैं : She .... criticised any explanations that the caste system was natural and ordained by the greator in Hindu texts (not Sanatan text?) of Brahma wanted centres argued Phule, he would have ordained the same for other creatures. There are no castes in species of animals or birds, so why should there be one among human

animals.'

पर यह कथन उनके अल्पज्ञान का ही परिचायक है; क्योंकि शास्त्रों में 'गो-अज-विप्र' एक ही जात और एक ही प्रकृति के कहे गये हैं।

ब्रह्मण्य–देवाय गो–ब्राह्मण हिताय च। ...विष्णु प्रणमन्त्र जिसमें **जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमो नमः** कहकर जगन्मंगल भावना से ईश्वर को प्रणाम किया जा रहा है। जगत के हितकारी 'गो-ब्राह्मण' के हित के भी प्रार्थना की जा रही है।

श्राद्धीय कर्मान्त मे भी विधान है कि श्राद्धीय पिण्डादि **गो–अजा–विप्रेभ्यः दघात्**।

देवताओं में अग्नि ब्राह्मण है, शनि शूद्र माने जाते हैं, सूर्य व रवि क्षत्रिय हैं। ऊर्ध्वगामी अग्नि को ज्ञान के साथ तुलना की जाती जैसे निम्नगामी जल को मन के साथ। उस अग्नि का वाहन 'छाग' पशु भी ब्राह्मण हैं और शान्त सन्तुष्ट स्वभाव का है।

अग्निर्वै ब्राह्मणः। (तैत्तिरीयसंहिता, 5.2.8)

अतः यज्ञकर्म में अग्नि और ब्राह्मण की प्रमुखता है। वैसे याज्ञिक पशुओं में अग्निवाहन, ब्राह्मणस्वभाव छागपशु का ही विशेष महत्त्व है। यथा, **छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रुहि**– मीमांसा सिद्धान्त यह ज्योतिष्टोम प्रकरण मे अग्नीषोम याग की पशुबलि में निर्णित सिद्धान्त है, जो ब्राह्मण स्वभाव का जीव ही अपने आप को समर्पण करें। संन्यास-धर्म से देह का भी न्यास (दान) करें।

वृक्ष-लता-जुला-कीट-पतंगों में जातित्व जानने के लिए भारतीय मनोविज्ञान में उक्त 72 प्रकार के मूल स्वभावों को समझना होगा। अतः ज्योतिराव फुले का यह वचन सर्वथा अनुचित और अनाधिकार चर्चा कहा जायेगा। इसी प्रकार गाँधीजी, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, राजा राममोहन राय, माइकेल मधुसूदन दत्त, यहाँ तक कि ईश्वरचन्द्र विद्यासागर-जैसे पण्डित भी हमारे वेद को अच्छी तरह नहीं समझ पाये। कारण, **न मेधया न बहुना श्रुतेन...**। यह गुरुगम्य विद्या है। विश्वास, आस्था, श्रद्धा (शास्त्रवाक्य और गुरुवाक्य में) इस मार्ग को समझने की पहली कड़ी है। इसलिए कहते हैं– **धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायाम्** –महाभारत।

अंत में कहेंगे कि सही आचार्य, सही उपाध्याय और सही आध्यात्मिक गुरु का एकान्त शरण, ब्रह्मचर्य का पालन, ध्यानाभ्यास, श्रवण, श्रवण और पुनः-पुनः श्रवण, मनन, निदिध्यासन, शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, उह, अपोह, अर्थविज्ञान और तत्त्वज्ञान की अष्टांगिक शिक्षामार्ग का अनुसरण, शास्त्रोक्त परम्परा का सम्मान, विश्वास, अविश्वास, अंधविश्वास में अंतर कर पाना निष्ठापूर्वक स्वभावज धर्म का पालन, वैसी योग्य, गुरुमुखी तथा गुरुकेन्द्रिक (जो पूर्वजन्म की अभ्यासवश स्वयम् इनको स्पष्ट देख व समझ पाते हैं) गुरुकुल शिक्षा-व्यवस्था वेदज्ञान, जाति-व्यवस्था को सही मायने में समझ पाने में सहायक साबित होगा, ऐसा मेरा मानना है।

समाप्त

❖❖❖

व्यक्तित्व

आचार्य देवेन्द्र स्वरूप एक युगद्रष्टा की इतिहास-दृष्टि

डॉ. आनन्द बर्धन*

श्री देवेन्द्र स्वरूप (30 मार्च, 1926-14 जनवरी, 2019) 1947 से 1960 तक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रचारक व पूर्णकालिक कार्यकर्ता रहे। 1966-'67 में अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद्, दिल्ली के अध्यक्ष रहे। 1961 में उन्होंने लखनऊ विश्वविद्यालय से प्राचीन भारतीय इतिहास विषय में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त की। 1975-77 के आपातकाल में कारावास-दण्ड भी भोगा। बाद में दिल्ली के पी.जी. डी.ए.वी. कॉलेज़ में इतिहास-विभाग में व्याख्याता पद पर सेवा में आए जहाँ से 1991 में उपाचार्य (रीडर) पद से सेवानिवृत्त हुए। श्री देवेन्द्र जी अयोध्या-विवाद के ऐतिहासिक पक्ष पर विश्व हिंदू परिषद् और बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी के संवाद में सहभागी रहे। भारतीय इतिहास अनुसन्धान परिषद् के 'ब्रिटिश जनगणना नीति (1871-1941) का दस्तावेजीकरण' प्रकल्प के मानद निदेशक रहे। दीनदयाल शोध संस्थान के निदेशक व उपाध्यक्ष भी रहे। डॉ. देवेन्द्र स्वरूप दो बार 'पाञ्चजन्य' साप्ताहिक के सम्पादक के पद पर रहे। संघ की अनेक पत्रिकाओं– 'चेतना', 'स्वतंत्र भारत' और 'मंथन' में भी कार्य किया। संघ में वह गाँधीवादी विचारधारा के पोषक थे। 'संघ : बीज से वृक्ष', 'संघ : राजनीति और मीडिया', 'जातिविहीन समाज का सपना', 'अयोध्या का सच' और 'चिरन्तर सोमनाथ' आपकी कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें हैं। इस वर्ष 14 जनवरी को दिल्ली में इन्होंने 93 वर्ष की सुदीर्घ आयु में अन्तिम साँस ली। सभ्यता-संवाद परिवार श्री देवेन्द्र स्वरूप जी की पुण्यात्मा को सादर नमन करता है। प्रस्तुत लेख में विद्वान् लेखक ने श्री देवेन्द्र स्वरूप जी की इतिहास-दृष्टि पर विशद प्रकाश डाला है। **–सम्पादक**

देवेन्द्र स्वरूप का इतिहासकार के रूप में मूल्यांकन उनकी भावदृष्टि के आधार पर ही सम्भव है। इसका कारण है, प्रतिष्ठापित इतिहासकारों के यूरोपनिर्दिष्ट इतिहासलेखन की विधा, प्रारूप एवं परम्परा का उनके द्वारा सहन प्रतिकार। उल्लेखनीय है, उनकी इतिहास-व्याख्या समसामयिक घटनाक्रमों, विशेषतः

* लेखक दिल्ली इंस्टीट्यूट ऑफ हेरिटेज रिसर्च एण्ड मैनेजमेंट में एसोसिएट प्रोफेसर तथा संग्रहालयविज्ञान के विशेषज्ञ हैं।

वैश्विक राजनीतिक दुराग्रहों के प्रत्युत्तरस्वरूप एक भारत-केन्द्रित प्रतिक्रिया रही है। वस्तुतः उनके इतिहासपरक लेखों का उद्देश्य लोकजागरण था, जिसका मुख्यतः प्रकटीकरण 'पाञ्चजन्य' नामक राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के मुखपत्र में हुआ। यही वह कारण है कि देवेन्द्र स्वरूप के समीक्षात्मक आलेखों के ऊपर भावात्मक राष्ट्रीय बोध की गहरी छाप है।

वे पश्चिमी इतिहासलेखन परम्परा के इतिहासकार नहीं थे, जिसने कालक्रमागत विवरणों को पुस्तकबद्ध करने का कार्य किया। अपितु उनका इतिहासलेखन एक वैचारिक आत्मसंघर्ष व युगबोध के साथ निरन्तर टकराव व घर्षण के परिणामतः उत्पन्न हुआ है। वे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की वैचारिक धारा को तरंगित करने का कार्य करते हुए भी कभी संकीर्णताओं में बँधकर इस सशक्त संगठन के अंध अनुयायी नहीं बने, प्रत्युत् समग्र दिशाबोध पैदा करनेवाले सृजनशील उन्नायक बने। इसका एक विराट् उदाहरण है, हिंदुत्व व राष्ट्रीयत्व की सैद्धान्तिक व्याख्या हेतु विनायक दामोदर सावरकर की विचारधारा की पूर्वागत दृष्टियों का अवगाहन कर बिपिन चंद्र पाल की भारत-दृष्टि को भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्रवाद का प्रस्थान-बिंदु मान लेना। उनका एक लेख यहाँ सन्दर्भवश उल्लिखित करना अपरिहार्य है। यह आलेख है : 'भविष्यवक्ता बिपिन चंद्र विस्मृत क्यों?' यह विचारगर्भित लेख 'पाञ्चजन्य' में 28 अगस्त, 1994 को प्रकाशित हुआ था। इस लेख के मूलभाव का परिग्रहण 1913 के 'हिंदू रिव्यू' में छपे बिपिन चंद्र के लेख 'हिंदू राष्ट्रवाद : उनका दर्शन क्या है?' से किया गया था, जिस पर एक सुसम्यक् विमर्श बिपिन चंद्र ने 1913 में प्रस्तुत किया था, न कि सैमुअल हंटिंगटन ने।

देवेन्द्र जी के ऐसे ही आलेखों में एथोनी गिडेंस की तथाकथित विचारधारा का विरोध भी महत्त्वपूर्ण है। प्रो. गिडेंस लन्दन स्कूल ऑफ़ इकोनॉमिक्स एण्ड पॉलिटिकल साइन्स के निदेशक एवं ब्रिटिश प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर एवम् अमेरिकी राष्ट्रपति के मागदर्शक थे अर्थात् वैश्वीकरण एवम् उदारवाद का जो भ्रामक सैद्धान्तीकरण वाणिज्यिक उपनिवेशवाद के विस्तार हेतु किया जा रहा था, उसके बौद्धिक व्याख्याकार गिडेंस ही थे। 1990 के दशक में गिडेंस भारत के अंग्रेज़ीपरस्त बौद्धिकों के आदर्श बनते जा रहे थे। देवेन्द्र स्वरूप वे प्रमुख व्यक्ति थे जिन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवाद के भारत पर प्रभाव जैसे विषय को लेकर बनारवादी गिडेंस के अभिमत का खण्डन किया था।

ऐसे प्रतिक्रियात्मक लेखों से अलग भारतीय परम्परा और राष्ट्र की सनातन चेतना आधारित राष्ट्रवाद-सम्बन्धी लेखन देवेन्द्र जी की महनीय उपलब्धि मानी जानी चाहिए। यह लेख अलग-अलग सन्दर्भों में अनेकशः 'पाञ्चजन्य' में उद्धृत हुआ। कारण था, हंटिंगटन की सभ्यता-दृष्टि का दृष्टांतयुक्त प्रत्युत्तर। प्रो. हंटिग्टन हार्वर्ड विश्वविद्यालय में 'साइंस ऑफ़ गवर्नमेंट' के प्राध्यापक थे। राजनीति में अमेरिकी व यूरोपीय सर्वोच्चता के पक्षधर हंटिग्टन ने सभ्यताई संघर्ष का एक सिद्धान्त गढ़ा था, जिसके कई विचार-बिन्दुओं से भारत का भविष्य-चिन्तन प्रभावित हो सकता था। सैम्युअल हंटिग्टन विश्व इस्लामवाद बनाम क्रिश्चियन सभ्यता के संघर्ष की जो भविष्यवाणी कर रहा था, उसको देवेन्द्र स्वरूप ने भारतीय दृष्टि से समझने का प्रयत्न किया। अपने विचार को सम्पुष्ट करने हेतु वे बिपिन चंद्र की 'हिंदुत्वबोध' और भविष्य के सभ्यतामूलक संघर्ष

को उनकी व्याख्या को भावात्मक एवं वैज्ञानिक– दोनों ही दृष्टियों से वे स्वीकारणीय एवम् अनुग्रहणीय मानते रहे। इसमें देवेन्द्र स्वरूप का वैयक्तिक मत है, सर्वमंगोलवाद (चीन का सैन्यवाद) से भारत पर आघात को राजनीति दृष्टि से लिखा गया है। गीता का कालाजित एवं देशातित है, देवेन्द्र स्वरूप इस अवधारणा को संबलित करते है। गीताभाष्य की विशद् परम्परा की ओर ध्यानाकर्षण करते हुए उन्होंने स्वतंत्रता संघर्ष काम की उसकी टीकाओं विशेषकर महात्मा तिळक के गीता रहस्य व सर्वपल्ली राधाष्णन आदि का उल्लेख किया है। इस सन्दर्भ में पाण्डुरंग शास्त्री अठावळे, प्रभुपाद स्वामी, काशीनाथ त्र्यम्बक तैलंग आदि का नामोल्लेख भी यहाँ किया गया है। आश्चर्यजनक रूप से यहाँ स्वामी सहजानन्द सरस्वती-विरचित 'गीता-हृदय' का उल्लेख नहीं है। सम्भव है, देवेन्द्र जी को भी स्वामी सहजानन्द का देशज समाजवाद और हलवाहावाद (किसान क्रांति) मार्क्सवादी दृष्टिकोण लगता रहा हो। वस्तुतः उनका उद्देश्य स्वतंत्रता आन्दोलन में गीता के अभिप्रेरणा-सूत्र के रूप में उपादेयता को प्रकाशित करना है। परन्तु कमोबेश उनकी व्याख्या तिळक की व्याख्या धुरी के चतुर्दिक् घूमती है, उसमें देवेन्द्र जी के स्वयं के आराध्य चिन्तकों, यथा– लाला लाजपत राय एवं बिपिन चंद्र की गीतादृष्टि का वर्णन न होना, असहज-सा है। ऐसे लेख विशुद्ध रूप में इतिहास की तार्किक प्रणाली के अनुसरण पर आधारित न होकर, संवाद की राष्ट्रवादी धारणा एवं शास्त्रीय व्याख्याओं से अभिप्रेरित है। 'सरस्वती तट से निकली सांस्कृतिक जययात्रा' एक ऐसा ही आलेख है। ऐसा प्रतीत होता है, इसमें एक काव्यपुरुष के विचारों का अवतरण हुआ है। स्मृति, पुराण, अर्थशास्त्र, प्रभृति ग्रथों में विवेचित भारत चेतना का इसमें उल्लेख जिस आदर्शात्मक शैली में हुआ है, उसमें एक मनस्वी पाठक संस्कृति के महापण्डित वासुदेवशरण अग्रवाल की वैचारिक प्रतिच्छाया का अवलोकन कर सकता है। देवेन्द्र जी ने यहाँ बौद्ध ग्रंथों में अनुस्यूत भारत-दृष्टि का उल्लेख कर समग्र राष्ट्रीय चैतन्य का सन्निवेश अपने लेख में किया है।

'भारत की ज्ञान-यात्रा में गीता का महत्त्व' उनका एक और गरिमापूर्ण लेख यहाँ प्रसंगवश उल्लेखनीय है। इस लेख के कई पक्ष ऐतिहासिक अनुशीलन की धारा की जगह, पुनः जनजागृति उनकी यह भाव-दृष्टि सैकड़ों लेखों में सहज ही प्रकट हुई है। देवेन्द्र जी कुछ मोती-माणिक्य भारत के इतिहास सागर से निकालकर उसे जन प्रबोधन का सूत्र बना डालते थे। उनका एक सारगर्भित लेख भारतीय राजनीति तब और अब में अरविन्द घोष के उत्तरपाड़ा-सम्बोधन का वर्णन किया है। देवेन्द्र जी इस सम्बोधन को दैवीय संदेश मानते है। आत्मत्याग की राजनीति का उत्कर्ष और सनातन ध्वनि का प्राकट्य इस उद्बोधन का मूलस्वर था। यह सम्पूर्ण लेख आज की राजनीतिक दुराग्रहता एवं व्यक्तिवाद पर प्रहार है। 'वंदे मातरम्' अख़बार की मूल भावना की सच्ची व्याख्या भी इसमें प्रस्तृत है। बिपिन चंद्र की स्वदेशी चेतना का प्रखर रूप भी इसमें वर्णित है। ये समस्त लेखों का स्वर एवं समसामयिक विश्लेषण की तुलना कभी भी बिपिन चंद्र एवं सुमित सरकार की रचनाओं से नहीं की जा सकती; क्योंकि देवेन्द्र जी इतिहास को राष्ट्रीय निर्माण का आधार मानते रहे।

देवेन्द्र जी की बौद्धिक शक्ति सहधर्मी पुरातत्त्वविद् एवं कला-इतिहासकार

❖❖❖

स्वराजप्रकाश गुप्त से पृथक् प्रयोग करती रही। डॉ. गुप्त यहाँ कला एवं पुरातत्त्व में पाश्चात्य अवधारणाओं का खण्डन-मण्डन करते रहे। देवेन्द्र स्वरूप इतिहास के मूल पक्षों को लेकर बनी जन-अवधारणाओं को बदलने हेतु लेखन करते रहे। इन लेखों में 'हिंदू : बदलते अर्थ सिकुड़ती सीमाएँ' एक प्रशंसनीय प्रयत्न है। इस विषय का मौलिक पक्ष हिंदुत्व व राष्ट्रीयत्व का पर्याय एवम् अन्तर्संबन्ध व्याख्यायित करना है। इस सन्दर्भ में बंकिम, दयानन्द, तिळक , विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, बिपिन चंद्र एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर की वैचारिक धाराओं को मानो वे सावरकर, गोलवळकर, हेडगेवार दृष्टि की प्राग्भावी स्रोत मानते हैं।

देवेन्द्र जी हिंदू सिख, दलित, नवबौद्ध-विरोध कुचक्र में फँसी भारतीय राजनीति के मुखर आलोचक थे। जैन-मतावलम्बियों को अल्पसंख्यक श्रेणी में सम्मिलित किए जानेवाली मांगों से उभरते सामाजिक विलगाव के संकट को भी वे बड़ा विषय मानते थे। वे हिंदुत्व की महजबी (साम्प्रदायिक) व्याख्या के विरुद्ध थे। उनके लिए इतिहास बौद्धिक विमर्श हेतु खड़ा किया वर्ग-विभेद नहीं है। इतिहास विसंगतियों को जन्म देनेवाली समाजशास्त्रीय व्याख्या भी नहीं है। न इतिहास घटनाक्रम का तथ्यात्मक समायोजन मात्र है।

देवेन्द्र जी का इतिहास-बोध राष्ट्र की जीवन-यात्रा है, अक्षुण्ण अप्रतिहत व अबाध प्रवाह, जो भारत की सनातनता का सर्वोत्तम लक्षण है, राष्ट्रीयता का आधार है, इसकी जीवन-पद्धति की अनुध्वनि है एवम् इन सबसे ऊपर राष्ट्रदेवता की जीवन्त आत्मा है, जिसका नाम भारतवर्ष है।

❖❖❖

पुस्तक-समीक्षा

आर्य, वैदिक सभ्यता और इतिहास

यह एक विडम्बना ही कही जा सकती है कि भारत का आज का इतिहास यूरोपीय विद्वानों की कल्पनाओं के आधार पर लिखा और पढ़ाया जाता है। उदाहरण के लिए मैक्समूलर ने एक काल्पनिक कालखण्ड निर्धारित किया कि वेदों की रचना ईसा से 1500 वर्ष पहले हुई होगी। दुःख और हैरानी की बात यह है कि उसके बाद से ढेरों ऐतिहासिक अनुसंधानों और भारतीय विद्वानों द्वारा पर्याप्त से अधिक प्रमाणों के दिए जाने के बाद भी वह काल्पनिक तथ्य अभी तक ऐतिहासिक तथ्य की तरह पूरे भारत में पढ़ाया जाता है। ठीक इसी प्रकार सिंधु घाटी सभ्यता भी है। जब मैक्समूलर ने वेदों का काल निर्धारित किया था, तब सिंधु घाटी सभ्यता की खोज नहीं हुई थी। उस इलाके में उत्खनन काफ़ी बाद में प्रारंभ हुआ, परंतु वहाँ मिले साक्ष्यों के आधार पर यह सरलता से कहा सकता था कि वेदों का काल सिंधु घाटी सभ्यता के पहले का है, परंतु हुआ इसका उलटा। कहा गया कि सिंधु घाटी सभ्यता आर्यों से पहले की भारत की बसावट थी, जिसे मध्य एशिया से आये आर्यों ने आक्रमण करके नष्ट कर दिया और बाद में वेदों की रचना की। इस प्रकार वेदों के 1500 वर्ष ईसा पूर्व में रचे जाने के एक झूठ को साबित करने के लिए आर्यों के आक्रमण का एक और झूठ रचा गया।

ऐसी परिस्थिति में दिल्ली विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र के प्रोफेसर रहे डॉ. कृपाशंकर सिंह की पुस्तक आर्य, ऋग्वेद और भारतीय सभ्यता एक नया विकल्प प्रस्तुत करती है। पुस्तक की प्रस्तावना में ही प्रो. सिंह लिखते हैं, हमने इस पुस्तक में, जैसा कि अभी कहा गया, ऋग्वेद और सिंधु-सरस्वती सभ्यता को एक ही निरंतरता में देखा है, और ऋग्वेद को सिंधु-सरस्वती सभ्यता से पूर्ववर्ती माना है। अपने इस कथन में प्रो. सिंह दो बातें स्थापित करते हैं, पहली यह कि सिंधु घाटी सभ्यता

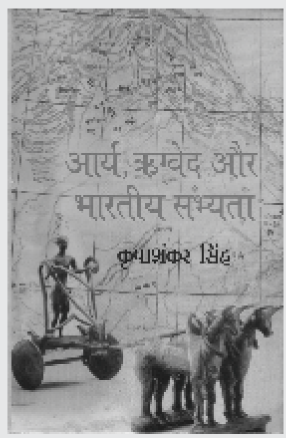

पुस्तक-नाम : आर्य, ऋग्वेद और भारतीय सभ्यता
लेखक : कृपाशंकर सिंह
प्रकाशक : किताबघर प्रकाशन, 4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंल, नयी दिल्ली; दूरभाष : 011-23266207
कुल पृष्ठ : 640
मूल्य : ₹1100/-

वास्तव में सरस्वती घाटी सभ्यता है और वेद उससे प्राचीन हैं, यह सभ्यता वेदों के आधार पर ही विकसित हुई थी।

लेखक ने अपनी इस बात को पर्याप्त से अधिक प्रमाणओं से पुष्ट किया है। उन्होंने यह बात मैक्समूलर और विलियम जोन्स की भाँति हवाई कल्पना करते हुए नहीं लिख दी। इसके लिए उन्होंने ऋग्वेद का गम्भीर अध्ययन किया और कथित सिंधु घाटी सभ्यता के उत्खनन से मिले पुरातात्त्विक प्रमाणों की सघन समीक्षा की है। सिंधु घाटी सभ्यता को 'सरस्वती घाटी सभ्यता' कहने के कारणों को बताते हुए वे लिखते हैं, ऐसी स्थिति में इसे 'सिंधु-सरस्वती सभ्यता' कहा जा सकता है। सरस्वती नाम इसलिए कि इस सभ्यता का विस्तार सिंधु से पश्चिम की अपेक्षा उसके पूर्व की ओर अधिक है। सरस्वती नाम देकर प्रो. सिंह ने इस सभ्यता को न केवल एक नयी पहचान दी है, बल्कि उन्होंने इसके द्वारा अनेक मिथकों को भी तोड़ा है। आमतौर पर सरस्वती नदी को वैदिककालीन नदी माना जाता है। यदि यह सरस्वती घाटी सभ्यता मान ली जाती है तो स्वाभाविक रूप से यह सभ्यता वैदिककालीन साबित हो जाएगी। साथ ही अभी तक के लिखित इतिहास में सरस्वती नदी की चर्चा कम ही होती है। इस नामकरण से इतिहास में सरस्वती नदी को भी उसका अपेक्षित स्थान मिल जाएगा। प्रो. सिंह द्वारा किया गया यह नामकरण भारतीय विश्वविद्यालयों की लीक से हटकर है।

लेखक ने सिंधु घाटी सभ्यता के नये नामकरण के बाद उसे वैदिककालीन साबित करने के लिए ऋग्वेद की गहन समीक्षा की है। ऋग्वेद का उनका अध्ययन काफ़ी प्रशंसनीय है। हालांकि महर्षि दयानन्द, श्रीअरविन्द, करपात्री जी महाराज-जैसे भारतीय परम्परा के विद्वानों की भाँति उन्होंने यह तो स्वीकार नहीं किया है कि ऋग्वेद सृष्टि के आदि में प्रकट हुए और इस कारण उसमें मानव का इतिहास नहीं है, इसके विपरीत उन्होंने ऋग्वेद में आए नहुष, पुरुरवा, ययाति, मान्धाता आदि नामों को आधिदैविक न मानकर ऐतिहासिक ही माना है। उन्होंने ऋग्वेद के आधार पर भारत का लगभग दस हज़ार वर्ष का इतिहास लिखने का प्रयास किया है। इस प्रकार उन्होंने भारत के वर्तमान अकादमिक जगत् में मान्य परम्परा का ही पालन किया है जो कि वेदों में इतिहास का होना स्वीकार करती है। परंतु उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने स्वयं से ऋग्वेद का गम्भीर अध्ययन किया है। वैदिक प्रमाणों के लिए वह किसी विदेशी लेखक या भाष्यकार पर निर्भर नहीं है। वेदमंत्रों का उनका अध्ययन अपना है और उसके अर्थों को उन्होंने अपनी अनुसंधानात्मक भाषाविज्ञानी दृष्टि से देखने और जानने का अभिनव तथा अभिनन्दनीय प्रयास किया है।

लेखक ने आर्य और दस्यु के विवाद पर भी अपना मत प्रस्तुत किया है और साबित किया है कि दस्यु भी आर्य ही थे। उन्होंने अनेक वेदमंत्रों को उद्धृत करते हुए यह बात स्थापित की है। इस प्रकार इस पुस्तक को हम भारतीय अकादमिक जगत् के लिए एक क्रान्तिकारी पहल के रूप में देख सकते हैं, परंतु यदि हम भारतीय इतिहास लेखन के ग़ैर-अकादमिक भारतीय प्रयासों की बात करें, तो उसमें इससे कोई विशेष सहायता प्राप्त नहीं होती। 'वैदिक सम्पत्ति' में पं. रघुनन्दन शर्मा ने भली-भाँति यह स्थापित किया है कि वेदों में आए मानुषी नाम वास्तव में भारतीय इतिहास के नाम नहीं हैं। वे खगोलीय घटनाओं के वाचक हैं। यह अलग बात है कि भारत में

नदी-पर्वतों से लेकर राजाओं और नगरों तक के नाम वेदों के शब्दों पर ही रखे गए। इस बात को और भी कई वैदिक विद्वानों ने स्थापित किया है। भारतीय अकादमिक जगत् की समस्या यह है कि वे यूरोपीय औपनिवेशिक सोच से बाहर निकलकर नहीं सोच पाते। वे केवल यूरोपीय परम्परा का ही अनुगमन मात्र करते हैं। चूँकि यूरोपीय परम्परा वेदों में इतिहास का वर्णन मानकर चलती है, इसलिए भारतीय अकादमिक जगत् भी वेदों में इतिहास मानकर चलता है।

वेदों में इतिहास का उल्लेख माने बिना भी हम भारतीय पुरातात्त्विक अनुसंधानों की व्याख्या कर सकते हैं। यह व्याख्या पुराणों से की जा सकती है। पुराणों में काफ़ी इतिहास लिखा हुआ है। इस पर पं. भगवद्दत्त-जैसे विद्वानों ने काफ़ी काम भी किया है। उदाहरण के लिए पुराणों में दी गई वंशावलियों में चंद्रगुप्त मौर्य का काल महाभारत-युद्ध के ठीक 1,600 वर्ष बाद का दिया गया है। इसके आधार पर गणना करें तो चंद्रगुप्त मौर्य का काल ईसा से 1538 वर्ष पूर्व का साबित होता है। इस कालगणना के इतिहास को स्वीकारने भर से सिंधु घाटी सभ्यता या सरस्वती घाटी सभ्यता आदि नामकरणों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। यह स्पष्ट है कि जिस कालखण्ड में इस घाटी सभ्यता की बात की जा रही है, उस काल के भारतीय शासक वंशों का उल्लेख पुराणों तथा महाभारत में स्पष्ट रूप से पाया जाता है। पुराणों और महाभारत के इन उल्लेखों को पूरी तरह नकारने का कारण क्या है? यह कोई भी आधुनिक इतिहासलेखक स्पष्ट नहीं करता।

पुराणों में वर्णित इतिहास को नकारने और वेदों में इतिहास ढूँढ़ने का प्रयास यूरोपीय तरीका था। यूरोपीय औपनिवेशक सोच में फँसे भारतीय भी इसी तरीके का प्रयोग करते हैं। डॉ. कृपाशंकर सिंह ने यूरोपीय औपनिवेशिक सोच को तोड़ने का आंशिक प्रयास किया है। वह वेदों को तो सिंधु घाटी सभ्यता से पुराना साबित करते हैं, परंतु वे इसे साबित करने के लिए पुराणों का आधार लेने के बजाय वेदों का ही आधार लेते हैं। इस प्रकार वे यूरोपीय स्थापना को आधा-अधूरा ही तोड़ पाते हैं। भारतीय अकादमिक जगत् के लिए यह पुस्तक निश्चित रूप से क्रांतिकारी है, परंतु भारतीय अकादमिक जगत् उनके इस प्रयास को कोई स्थान देगा, इसकी सम्भावना दिखती नहीं है।

पुस्तक की भाषा काफ़ी सरल और सुग्राह्य है। ऋग्वेद के सन्दर्भों को इतने प्रयासपूर्वक एकत्र किया गया है कि यदि हम वेदों में इतिहास को न मानें, तो भी इन सन्दर्भों का भरपूर उपयोग हो सकता है। उदाहरण के लिए लेखक ने वेदों में जल के स्रोतों, जलयान आदि के वर्णन पर जो सन्दर्भ दिए हैं, वे काफ़ी उपयोगी हैं। कृषि, उद्योग, विभिन्न विज्ञान-सम्बन्धी ऐसे विवरण और भी बहुत सारे हैं। लेखक ने अत्यंत परिश्रमपूर्वक ऐसे ढेरों सन्दर्भ एकत्र किए हैं, जिनसे वेदों में भरे ज्ञान-भण्डार का पता चलता है। वेदों के एक सामान्य पाठक के लिए किसी वेदभाष्य को पढ़ना सरल नहीं होता, परंतु वह कम-से-कम ऋग्वेद के लिए इस पुस्तक को पढ़ सकता है और वेदों का ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

■ ममता रानी

भारत से ही अपरिचित हैं, भारतीय इतिहास के लेखक

रवि शंकर

एनसीईआरटी की कक्षा छह की इतिहास की पाठ्यपुस्तक है 'हमारा अतीत', जिसे अंग्रेज़ी में कहा गया है 'आवर पास्ट'। स्पष्ट है कि यह पुस्तक भारत के इतिहास पर केंद्रित है। परन्तु इस पुस्तक का प्रारम्भ कहीं से भी यह आभास नहीं देता है कि हम इसमें अपने देश के गौरवशाली अतीत के बारे में पढ़ने जा रहे हैं। इसे इतने अधिक निरपेक्ष भाव से लिखा गया है कि शायद कोई विदेशी भी इतने निरपेक्ष भाव से भारत का इतिहास नहीं लिख पाएगा। हम जानते हैं कि ऐसे यूरोपीय विद्वानों की कमी नहीं है जो भारत से अतिशय प्रभावित रहे हैं। उदाहरण के लिए यदि हम अमेरिकन दार्शनिक विल ड्युरैंट और जर्मन विद्वान् मैक्समूलर की ही बात करें, तो दोनों ही भारत के बारे में जो लिखते हैं, उसे पढ़कर किसी भी भारतीय का मस्तक गर्व से ऊँचा हो जाएगा। विल ड्युरैंड भारत के बारे वर्ष 1930 में लिखते हैं, 'Let us remember, first, that India is not a little island, nor a continent sparsely inhabited by savages, but a vast territory containing 3,20,000,- 000 souls—three times as many as in the United States, more than in North and South America combined, more than in all Europe, west of Russia, combined; all in all, one-fifth of the world's population. Let us remember, further, that in the northern and more important half of India the people are predominantly of the same race as the Greeks, the Romans, and ourselves— *i.e.*, 'Indo-Europeans' or 'Aryans'; that though their skin has been browned by the tireless sun, their features resemble ours, and are in general more regular and refined than those of the average European; that India was the mother-land of our race,

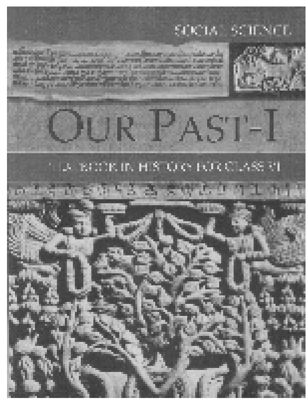

and Sanskrit the mother of Europe's languages; that she was the mother of our philosophy, mother, through Arabs, of much of our mathematics, mother, through Buddha, of the ideals embodied in Christianity, mother, through the village community, of self-government and democracy. Mother India is in many ways the mother of us all.[1] अपने इस लेख पर ड्युरैंड यह भी टिप्पणी करते हैं कि वे इसका विस्तार अपनी पुस्तक हिस्ट्री ऑफ़ सिविलाइजेशन में करेंगे। परंतु यह पुस्तक कक्षा छठी के बच्चों के भावुक मनों में देश के प्रति एक ऐसा निरपेक्ष भाव भरने का प्रयास करती है जो कहीं से भी लाभकारी प्रतीत नहीं होता।

नाम का भ्रम

चूँकि इसका हरेक अध्याय एक प्रश्न से प्रारंभ किया गया है, इसलिए हम भी इस समीक्षा को एक प्रश्न से ही प्रारंभ करेंगे। प्रश्न यह है कि किसी भी व्यक्ति, स्थान या देश का परिचय हम कैसे प्रारम्भ करते हैं? इस प्रश्न का सहज उत्तर है उसके नाम को जानने से। भारत के इतिहास के अध्ययन का प्रारम्भ स्वाभाविक रूप से भारत के नाम की चर्चा से होना चाहिए था। परंतु इस पुस्तक के पहले अध्याय का पहला प्रश्न रशीदा नाम की लड़की का है कि कोई कैसे जान सकता है कि सौ वर्ष पहले क्या हुआ? यानी पहला प्रश्न इस देश के बारे में नहीं लिया गया है। पहला प्रश्न लिया गया है कि हम इतिहास को कैसे जान सकते हैं? इतिहासलेखन-जैसे कठिन और दार्शनिक विषय को बच्चों को समझाने का क्या उद्देश्य है, यह तो इसके लेखक-सम्पादक ही जानें, परंतु शिक्षा एवं बाल-मनोविज्ञान का एक सामान्य-सा विद्यार्थी भी यह बतला सकता है कि बच्चों को इतिहास कथाओं-कहानियों के माध्यम से अधिक अच्छे से पढ़ाया जा सकता है। यदि हम इसी पुस्तक का प्रारम्भ इस प्रश्न से करते कि हम भारत को भारत के नाम से क्यों पुकारते हैं, तो यह एक स्वाभाविक प्रश्न होता। फिर इसके उत्तर में भारत नाम का अर्थ तथा भरत नाम के महापुरुषों की कथाएँ संक्षेप में रखी जातीं, तो यह प्रश्न तुरंत बच्चों को भारत के इतिहास के एक गौरवपूर्ण क्षण से जोड़ देता। फिर इस नाम को ऋग्वेद में आए 'भारत' शब्द से जोड़ा जाता तो, इस प्रश्न का उत्तर उन्हें भारत नाम की गरिमा और उसके पीछे की दार्शनिक महत्ता का भी बोध करवाता। हालांकि इस अध्याय में आगे 'भारत' नाम रखे जाने का कारण बताया गया है। लिखा है– अपने देश के लिए हम प्रायः 'इण्डिया' तथा 'भारत'-जैसे नामों का प्रयोग करते हैं। 'इण्डिया' शब्द 'इण्डस' से निकला है जिसे संस्कृत में 'सिंधु' कहा जाता है। अपने एटलस में ईरान और यूनान का पता लगाओ। लगभग 2500 वर्ष पूर्व उत्तर-पश्चिम की ओर से आनेवाले ईरानियों और यूनानियों ने सिंधु को 'हिंदोस' अथवा 'इंदोस' और इस नदी के पूर्व में स्थित भूमि प्रदेश को 'इण्डिया' कहा। 'भरत' नाम का प्रयोग उत्तर-पश्चिम में रहनेवाले लोगों के एक समूह के लिए किया जाता था। इस समूह का उल्लेख संस्कृत की आरंभिक (लगभग 3,500 वर्ष पुरानी) कृति ऋग्वेद में भी मिलता है। बाद में इसका प्रयोग देश के लिए होने लगा।[2]

इस उद्धरण में अपने देश का पहला नाम 'इण्डिया' बताया गया है। यह संविधान की दृष्टि से तो सही हो सकता है, परन्तु यह कहीं से भी इतिहास के अनुसार नहीं है। पुस्तक ही बता रही है कि विदेशी ईरानियों तथा यूनानियों ने भारत को 'इण्डिया' कहा। परंतु पुस्तक यह नहीं

बताती है कि उस दौरान हम अपने देश को क्या कहते थे। इतना ही नहीं, पुस्तक बच्चों को यह बताती है कि 'इण्डिया' सिंधु के पश्चिम में बसे लोगों के एक समूह को ही कहा जाता था, पूरे देश को नहीं। 'भारत' नाम का प्रयोग भी उन्होंने उसी जनसमूह के लिए बतलाया है। यानी यह पुस्तक बच्चों को यह बतलाने का काम कर रही है कि लगभग 2,500 वर्ष पहले भारत देश का या तो कोई अस्तित्व नहीं था या फिर उसका कोई नाम ही नहीं था। बाद में इसे देश के रूप में जाना जाने लगा। यह उल्लेख पूरी तरह से झूठ ही है।

इसके विपरीत यह देखना रोमांचकारी हो सकता है कि भारत दुनिया के मन-मस्तिष्क में इस तरह छाया हुआ रहा है कि यूरोप के लोग लगभग ढाई-तीन हज़ार वर्ष पहले से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक पूरे विश्व को 'इण्डिया' ही समझते थे। जब वे अमेरिका पहुँचे, तो उन्होंने उसे 'इण्डिया' कहा। अफ्रीका के इथियोपिया को वे इण्डिया ही समझते थे। इस बात की ओर संकेत करते हुए ही पोम्पा बनर्जी लिखती हैं, 'यहाँ मैं पूरब का सन्दर्भ एक सामान्य परिप्रेक्ष्य में ले रही हूँ। जैसा कि मैं बता चुकी हूँ कि आधुनिक काल के प्रारंभ की चर्चाओं में भारत का अर्थ एक विशाल अपारिभाषित क्षेत्र हुआ करता था, जिसका प्रयोग यूरोप के बाहर के सभी क्षेत्र के लिए किया जाता था।[3] इसका कारण केवल यूरोप का भौगोलिक संभ्रम ही रहा होगा, ऐसा नहीं मानना चाहिए। इसका कारण प्राचीन ऐतिहासिक स्मृति भी हो सकती है। आज के कुछेक इतिहासकार जिस महाभारत काल को मिथक मानते हैं, वास्तव में उस काल में यूरोप के पूरब में भारत का ही पूरा साम्राज्य हुआ करता था। निकट पूर्व के एशिया माइनर से लेकर सुदूर पूर्व में चीन तक भारत के जनपदों के रूप में ही जाने जाते थे। समझा जा सकता है कि इस इतिहास की स्मृति ही यूरोप के अवचेतन मानस में बैठी थी।[4]

स्पष्ट है कि यदि पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व में हेरोडोटस इण्डिया का उल्लेख कर रहा है, तीसरी शताब्दी ईसापूर्व में मेगास्थनीज, एरियन, टसाइस-जैसे ग्रीक-लेखक इण्डिया के गंगा-यमुना क्षेत्र तक का वर्णन कर रहे हैं और प्लीनी ईसा की पहली शताब्दी में इण्डिया और साथ ही मसालों के व्यापार, जोकि भारत के दक्षिण से ही होता है, सिंधु के पश्चिम से तो कदापि नहीं, का उल्लेख कर रहा है, तो विदेशी वर्णनों में ही इण्डिया कहीं से भी केवल सिंधु के पश्चिम में रहनेवाले लोगों के एक समूह के लिए नहीं आया है, वह पूरे देश के लिए आया है। परंतु इस ऐतिहासिक तथ्य की घोर उपेक्षा करते हुए यह पुस्तक प्रारम्भ से ही अबोध बच्चों के मन में अपने देश के नाम के प्रति एक हीनता और उपेक्षा का भाव भरती है।

वहीं यदि हम भारतीय सन्दर्भों की बात करें, तो भारत का नाम विष्णुपुराण में इस प्रकार कहा गया है– **उत्तरं यत्समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम्, वर्षं तद्भारतं नाम भारती यत्र संततिः।**[5] विष्णुपुराण का काल कम-से-कम आज से दो हज़ार वर्ष पूर्व का है। दो हज़ार वर्ष पुराना विष्णुपुराण का यह उद्धरण बताता है कि हमारे पूर्वजों ने अपने देश को भारत कहा था और उन्हें उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में समुद्र तक के एकत्व की जानकारी थी। परन्तु यह उद्धरण यह नहीं बताता कि आख़िर हमने यह नाम रखा कब? 'भारत' शब्द के स्रोत के रूप में एनसीईआरटी की पुस्तक में भी ऋग्वेद को बताया गया है। हालांकि उसमें भी एक दोष यह है कि वहाँ कहा गया

है कि इस समूह का उल्लेख संस्कृत की आरंभिक कृति ऋग्वेद में भी मिलता है। इस विवरण में दो दोष हैं। पहला तो यह है कि ऋग्वेद आधुनिक इतिहासकारों के अनुसार भी विश्व का प्राचीनतम ग्रंथ है और दूसरे उसमें इस जनसमूह का उल्लेख नहीं, बल्कि 'भारताग्नि' का उल्लेख है। 'भारताग्नि' किसी देश विशेष नहीं, बल्कि भावविशेष के लिए आया है। उस भाव से परिपूर्ण होने के कारण हमारे पूर्वजों ने अपने देश का नाम 'भारत' रखा था। इसी भारत को उच्चारण-दोष के कारण विदेशियों ने 'इण्डिया' कहा। इस विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भारत' नाम 'इण्डिया' नाम से पुराना है और इसलिए हमें अपने देश को 'भारत' नाम से ही पुकारना चाहिए। इस सीधे-साधे इतिहास को बताने की बजाय एक छठी कक्षा की पुस्तक में इतना ताना-बाना बुना गया, केवल इसलिए कि छात्रों के मन में देश के प्रति गौरव का भाव न जगने पाए। यह एक विचित्र मानसिकता ही कही जाएगी।

इतिहास और उसके स्रोत

इसके बाद इस पाठ्यपुस्तक का लेखक अबोध बच्चों को वह इतिहासदर्शन समझाने का प्रयास कर रहा है जिसकी रूपरेखा अभी तक यूरोपीय तथा उनके अनुयायी भारतीय इतिहासकारों तक को भी स्पष्ट नहीं है। इसका प्रारम्भ वह इस प्रश्न से करता है कि अतीत के बारे में कैसे जानें? इसका पहला स्रोत यह पाठ्यपुस्तक बताती है, 'अतीत की जानकारी हम कई तरह से प्राप्त कर सकते हैं। इनमें से एक तरीका अतीत में लिखी गई पुस्तकों को ढूँढ़ना और पढ़ना है। ये पुस्तकें हाथ से लिखी होने के कारण पाण्डुलिपि कही जाती हैं। अंग्रेज़ी में 'पाण्डुलिपि' के लिए प्रयुक्त होनेवाला 'मैन्यूस्क्रिप्ट' शब्द लैटिन शब्द 'मेनू' जिसका अर्थ हाथ है, से निकला है। ये पाण्डुलिपियाँ प्रायः ताड़पत्रों अथवा हिमालय-क्षेत्र में उगनेवाले भूर्ज नामक पेड़ की छाल से विशेष तरीके से तैयार भोजपत्र पर लिखी मिलती हैं।'[6] यह बड़ा ही दुखद लगता है कि पुस्तक मैन्युस्क्रिप्ट का स्रोत और अर्थ तो बताती है, लेकिन वह पाण्डुलिपि का अर्थ नहीं समझाती। पाण्डु यानी पीला और लिपि यानी लेखन। भोजपत्रों का रंग पीला होता था इसलिए पाण्डु यानी पीला और लिखे होने के कारण लिपि, इसलिए इन्हें पाण्डुलिपि कहा गया। इसका एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि मूल पुस्तक सम्भवतः अंग्रेज़ी में ही लिखी गयी है और हिंदी पुस्तक उसका एक अनुवादभर है और इसलिए चूँकि अंग्रेज़ी की पुस्तक में 'मैन्युस्क्रिप्ट' की परिभाषा दी गई है, हिंदीवालों ने भी इसकी परिभाषा दे दी, परंतु उन्होंने पाण्डुलिपि को पारिभाषित करने की आवश्यकता नहीं समझी। इससे बच्चों को पाण्डुलिपि के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती। इसके बाद पुस्तक में अभिलेखों और पुरातात्त्विक सामग्रियों की चर्चा की गई है। परंतु पुस्तक आश्चर्यजनक रूप से श्रुति तथा मौखिक परम्परा की पूरी उपेक्षा कर देती है। आख़िर इतिहास का प्रारम्भिक ज्ञान हमें मौखिक परम्परा से ही होता है, लिखित से नहीं। वैसे भी भारत में लंबे समय तक श्रुति परम्परा रही है, जो कि मौखिक परम्परा ही है। यह कहना तो एक प्रकार का छल ही है कि मौखिक परम्परा में झूठ समावेशित हो जाता है और लिखित सबकुछ एकदम सही ही होता है। आज हम जानते हैं कि बड़ी मात्रा में झूठा इतिहास भी लिखा जाता रहा है। सारे लिखित विवरण एकदम से सही इतिहास नहीं होते। इसलिए इतिहास के स्रोतों के रूप में सबसे पहले तो मौखिक

परम्परा और उसमें भारत की श्रुति-परम्परा का उल्लेख किया ही जाना चाहिए था। यहाँ हम यदि भारत की श्रुति-परम्परा के बारे में थोड़ा सा बता दें, तो समीचीन ही होगा।

भारत की श्रुति-परम्परा वेदों तथा वैदिक साहित्य की है। एक लम्बे कालखण्ड से भारतीय ऋषियों ने वेदों को पूरी तरह कण्ठस्थ करके रखा। केवल वेदों ही नहीं, उन्होंने ब्राह्मण तथा आरण्यक-ग्रंथ, छहों दर्शन-ग्रंथों, रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों को भी कण्ठस्थ कर रखा था। इनका पठन-पाठन मौखिक परम्परा से ही किया जाता था। वेदों को स्मरण करने के लिए तो उन्होंने दस प्रकार के पाठ बनाए ताकि उनमें एक मात्रा की भी हेर-फेर न हो सके। इतनी निष्ठा से उन्होंने भारत की ज्ञान-परम्परा को सुरक्षित रखा। चूँकि आधुनिक यूरोपीय इतिहासकार मौखिक सामग्री को इतिहास नहीं मानते, इसलिए उन्होंने न केवल इस परम्परा की, बल्कि इस परम्परा के इतिहास की भी उपेक्षा की। इसलिए वे लिखित प्रमाण मिलने से पहले के मानव इतिहास को 'इतिहासपूर्व' या फिर 'प्रागैतिहासिक' कहने लगे। परन्तु भारतीय विद्वानों के लिए इतिहासपूर्व या फिर प्रागैतिहासिक जैसी कोई चीज है ही नहीं। जो लिखित इतिहास से बाहर है, उसके लिए उनके पास मौखिक इतिहास यानी श्रुति-परम्परा उपलब्ध थी। इस पूरे विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि इतिहास को जानने के स्रोतों में मौखिक परम्परा की उपेक्षा काफ़ी त्रुटिपूर्ण है।

लिखित विवरणों में भोजपत्रों का उल्लेख भी और अधिक ठीक ढंग से किया जा सकता था। इसमें यह बताया जा सकता था कि आधुनिक पद्धति से बनाए गए काग़ज़ की आयु केवल 60-70 वर्ष की है, इसके बाद वह नष्ट हो जाता है। जबकि भोजपत्र से बने काग़ज़ की आयु 700 वर्षों से भी अधिक है। इतना ही नहीं, उस काल में बनाई जानेवाली स्याही की आयु भी दो हज़ार वर्ष से अधिक की है, जबकि आज बनाई जानेवाली स्याही की आयु भी कुछ दशक ही है। इसके अतिरिक्त आधुनिक काग़ज़ जहाँ पेड़ों और पर्यावरण का नाश करके बनाए जाते हैं, वहीं मौखिक परम्परा और भोजपत्र– दोनों ही पेड़ और पर्यावरण की रक्षा करते थे। यहाँ यह भी बताया जा सकता था कि भारत के अनेक गुरुकुलों में आज भी इस प्रकार के काग़ज़ और स्याहियों को बनाने का काम किया जाता है।[7] परंतु इसके लिए पुस्तक के लेखकों को भारत और भारतीयता का ज्ञान और बोध– दोनों का ही होना आवश्यक है, जिसका कि इस पुस्तक के लेखन में नितांत अभाव ही दिखता है।

अतीत अनेक नहीं, एक

इसके बाद पुस्तक छात्रों को और अधिक दिग्भ्रमित करना प्रारम्भ करती है। यह पुस्तक के नाम का उल्लेख करते हुए छात्रों को इतिहास के बहुत्व के दुर्गम्य सिद्धान्त को बतलाने का प्रयास प्रारंभ कर देती है। वहाँ लिखा गया है, क्या तुमने इस पुस्तक के शीर्षक 'हमारे अतीत' पर ध्यान दिया है? यहाँ 'अतीत' शब्द का प्रयोग बहुवचन के रूप में किया गया है। ऐसा इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाने के लिए किया गया है कि अलग-अलग समूह के लोगों के लिए इस अतीत के अलग-अलग मायने थे। उदाहरण के लिए पशुपालकों अथवा कृषकों का जीवन राजाओं तथा रानियों के जीवन से तथा व्यापारियों का जीवन शिल्पकारों के जीवन से बहुत भिन्न था।

जैसा कि हम आज भी देखते हैं, उस समय भी देश के अलग-अलग हिस्सों में लोग

अलग-अलग व्यवहारों और रीति-रिवाजों का पालन करते थे। उदाहरण के लिए आज अंडमान द्वीप के अधिकांश लोग अपना भोजन मछलियाँ पकड़कर, शिकार करके तथा फल-फूल के संग्रह द्वारा प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत शहरों में रहनेवाले लोग खाद्य-आपूर्ति के लिए अन्य व्यक्तियों पर निर्भर करते हैं। इस तरह के भेद अतीत में भी विद्यमान थे।

इसके अतिरिक्त एक अन्य तरह का भेद है। उस समय शासक अपनी विजयों का लेखा-जोखा रखते थे। यही कारण है कि हम उन शासकों तथा उनके द्वारा लड़ी जानेवाली लड़ाइयों के बारे में काफ़ी कुछ जानते हैं। जबकि शिकारी, मछुआरे, संग्राहक, कृषक अथवा पशुपालक-जैसे आम आदमी प्रायः अपने कार्यों का लेखा-जोखा नहीं रखते थे। पुरातत्त्व की सहायता से हमें उनके जीवन को जानने में मदद मिलती है। हालांकि अभी भी इनके बारे में बहुत कुछ जानना शेष है।[8]

इस पूरे विवरण से केवल पुरातत्त्व का महत्त्व स्थापित करने का प्रयास किया गया है। प्रश्न उठता है कि जैसे अलग-अलग समुदायों का इतिहास अलग-अलग होता है, वैसे ही एक ही समुदाय में अलग-अलग व्यक्तियों का इतिहास अलग-अलग नहीं होता? फिर क्या हम इतिहास को एक-एक व्यक्ति के अनुसार पढ़ाना चाहेंगे? इस प्रश्न को उठाने से यह प्रतीत हो रहा है कि स्वयं लेखक ही इतिहास को लेकर काफ़ी भ्रम में है। उसे स्वयं ही यह ज्ञात नहीं है कि वह यह इतिहास को क्यों बताना चाह रहा है। उसे भारत की एकता का इतिहास बताना है या फिर उसके टुकड़ों में बँटे होने का इतिहास बताने में उसकी अधिक रुचि है। हमें यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि भारत में किए गए इतिहासलेखन में राजाओं का इतिहास मात्र नहीं है। इसमें ऋषि-परम्परा का भी इतिहास लिखा गया है। उन्हीं कथाओं में वनों में रहनेवाले विभिन्न समूहों की जानकारी भी दर्ज की गई है। नगरों के जीवन के साथ-साथ ग्रामीण जीवन का भी ठीक-ठाक चित्रण किया गया है। राजाओं की वंशावलियों को इतिहास मानने का दृष्टिकोण भारत में कभी रहा ही नहीं, यह दृष्टिकोण तो शुद्ध रूप से यूरोप का है। फिर यह प्रश्न भारत का इतिहास लिखते समय क्यों उठाया गया है, यह समझ से परे है।

इस प्रश्न को हम दूसरे तरीके से रख सकते थे। हम कह सकते थे कि भारत के इतिहास में राजाओं से अधिक हमने ऋषियों, विद्वानों आदि को महत्त्व दिया गया है। हमारे यहाँ सप्तर्षियों से लेकर वसिष्ठ, विश्वामित्र, जमदग्नि, परशुराम, कपिल, पतञ्जलि, पाणिनि, शुक्राचार्य, चाणक्य-जैसे विद्वान् ऋषियों की परम्परा का इतिहास सुरक्षित है। देवों से लेकर गन्धर्वों, राक्षसों, नागों, वानरों, निषादों, भीलों आदि को भी इतिहास में पर्याप्त स्थान दिया गया है। इस क्रम में हम यह भी बता सकते थे कि नाग, वानर, गन्धर्व आदि विभिन्न स्थानीय जातियाँ थीं, कोई साँप, बंदर आदि जीव नहीं। परंतु यह सब इतिहास को लिखने के लिए भारतीय परम्परा की जानकारी का होना आवश्यक है।

इतिहास और तिथियाँ (भारत के लिए तिथियों का मतलब)

कालगणना का विषय आते ही विज्ञान और तकनीकी को अपना आधार माननेवाले इतिहासकार और इस पुस्तक के लेखक अचानक से परम्परावादी बन जाते हैं। इस पुस्तक का लेख भी ऐसा ही

कर रहा है। एनसीईआरटी की यह पुस्तक तिथियों का मतलब बताते हुए कहती है– अगर कोई तुमसे तिथि के विषय में पूछे, तो तुम शायद उस दिन की तारीख, माह, वर्ष जैसे कि 2000 या इसी तरह का कोई और वर्ष बताओगी। वर्ष की यह गणना ईसाई धर्म-प्रवर्तक ईसा मसीह के जन्म की तिथि से की जाती है। अतः 2000 वर्ष कहने का तात्पर्य ईसा मसीह के जन्म के 2000 वर्ष के बाद से है। ईसा मसीह के जन्म के पूर्व की सभी तिथियाँ ई.पू. (ईसा से पहले) के रूप में जानी जाती हैं। इस पुस्तक में हम 2000 को अपना आरम्भिक बिन्दु मानते हुए वर्तमान से पूर्व की तिथियों का उल्लेख करेंगे।

इसके बात एक बॉक्स में 'ईसा पूर्व' और 'ईसा पश्चात्' का मतलब समझाया गया है। परवतु यह पुस्तक बच्चों को यह नहीं बताती है कि आख़िर ईसा को ही इतिहास का प्रारम्भ-बिंदु क्यों स्वीकार किया गया है? जब हम इतिहास भारत का पढ़ रहे हैं, तो हमें भारत के इतिहास का कोई प्रारम्भ-बिंदु क्यों नहीं जानना चाहिए? यूरोप का इतिहास ईसा के आगे-पीछे से प्रारम्भ हो सकता है, परन्तु भारत का इतिहास ईसा के आगे-पीछे से क्यों लिखा जाना चाहिए? इस प्रश्न पर इस अध्याय के वैज्ञानिक इतिहासलेखक एकदम से परम्परावादी होते हुए लिखते हैं– 'हम इन शब्दों का प्रयोग इसलिए करते हैं; क्योंकि विश्व के अधिकांश देशों में अब इस कैलेंडर का प्रयोग सामान्य हो गया।' भारत में तिथियों के इस रूप का प्रयोग लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आरंभ हुआ था। यह एक प्रकार बौद्धिक छल ही है। यहाँ यह बताते हुए भी कि इस कालगणना का प्रयोग हमारे देश में केवल दो सौ वर्षों से हो रहा है, ये विद्वान् लेखक यह नहीं बताते कि दो सौ वर्ष पहले हम किस गणना का प्रयोग करते थे। कम-से-कम यहाँ पर उन्हें नेहरू सरकार द्वारा स्वीकृत शक संवत् का परिचय तो करवा दी देना चाहिए था। इस क्रम में उन्हें देशभर में प्रचलित विक्रम संवत् का ज्ञान भी देना चाहिए था। इसके साथ ही यहाँ हम भारतीयों की कालगणना, उसकी सूक्ष्मता, यूरोपीय कालगणना से उसकी भिन्नता और श्रेष्ठता आदि सभी कुछ समझा सकते थे। परंतु भारत की श्रेष्ठता से परिचय कराना, सम्भवतः इस पुस्तक का उद्देश्य है ही नहीं।

यह देखना रोचक हो सकता है कि भारतीय अपनी कालगणना सृष्टि संवत् से प्रारंभ करते रहे हैं और इसके लिए 1.97 अरब से लेकर 1.95 अरब वर्षों का काल गिना जाता है। यह भिन्नता गणना के तरीकों के कारण आती है और सिद्धान्ततः सभी गणनाएँ एक ही हैं। आज जब यूरोपीय विज्ञानी सृष्टि की आयु 4.32 अरब वर्ष बता रहे हैं, तो यह जानना बच्चों के लिये काफ़ी रोचक होता कि जब (आज से दो सौ वर्ष पहले तक) यूरोप सृष्टि की आयु केवल 6000 वर्ष मानता था, तब हम भारतीय सृष्टि की आयु अरबों वर्षों में गिन रहे थे। इससे हमारी कालगणना की वैज्ञानिकता का बच्चों को पता चलता। इसी क्रम में कलि संवत् आदि विभिन्न संवतों की जानकारी भी बच्चों को दी जा सकती थी, जिससे उन्हें अपने पूर्वजों की बौद्धिकता पर गर्व होता।

इसके बाद यहाँ यह भी बताया जा सकता था कि भारतीय काल को चक्रीय मानते हैं, यूरोपीय लोगों की भाँति एकरैखिक नहीं। इस कारण हमारे यहाँ इतिहास की पुनरावृत्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है। इसके लिए प्रचलित लोककहावत– इतिहास स्वयं को दोहराता है– भी यहाँ दी जा सकती थी। इसे हम राम-रावण युद्ध से लेकर महाभारत और यूरोप में लड़े गए दो

महायुद्धों से अच्छी तरह समझा सकते थे।

इस अध्याय के अंत में 'अन्यत्र' के नाम से एक बॉक्स दिया गया है। उसमें अभिलेखों और उसकी लिपियों को पढ़ने जैसे कठिन विषय को समझाने का प्रयास किया गया है। उसमें उदाहरण मिश्र का दिया गया है। यह समझना कठिन है कि भारत का इतिहास बतानेवाली पुस्तक और अध्याय में मिश्र का उदाहरण क्यों दिया गया है? लेखक अजंता और एलोरा की गुफाओं में बने चित्रों, भारतीय सम्राटों के अभिलेखों आदि का भी उदाहरण ले सकता था, परंतु उसने मिश्र का उदाहरण लेना ही ठीक समझा। हालाँकि इस उदाहरण से बच्चों को इस लिपि-अध्ययन की मूर्खता का परिचय ठीक से होता है। 'एल' के लिए शेर और 'ए' के लिए पक्षी का चित्र क्यों बनाया जाएगा, यह बताने का कष्ट लेखकों ने नहीं किया। उन्होंने यह भी नहीं समझाया कि मिश्र में क्या आज से 3-4 हज़ार वर्ष पूर्व अंग्रेज़ी के अक्षर प्रचलित थे। निश्चित रूप से इस प्रकार के अवैज्ञानिक लिपि-अध्ययन को देना बच्चों के लिए समझ से परे ही है। वे इसे केवल रटेंगे ही, जोकि एनसीईआरटी की शिक्षानीति के ही विरुद्ध है।

इसी प्रकार बच्चों को अतिरिक्त गतिविधियों के रूप में एक पुरावविद् का साक्षात्कार लेने के लिए पाँच प्रश्न लिखने के लिए प्रेरित किया गया है। यहाँ यह बताना अच्छा रहेगा कि पूर्णतः प्रशिक्षित पत्रकार भी किसी का पुरावविद् का साक्षात्कार लेने से पहले दो दिन की तैयारी करते हैं। बच्चों को तो छोड़ ही दें, शिक्षक भी ऐसे पाँच प्रश्न तैयार कर पाएँगे, इसमें संदेह है। बच्चों को इस प्रकार के कठिन और उनके लिए निरर्थक कार्य देने की बजाय उन्हें दादी-नानी या घर के किसी बुजुर्ग से ध्रुव, प्रह्लाद आदि किसी की कहानी सुनकर लिखने का कार्य दिया जा सकता था। इससे उन्हें भारत की श्रुति परम्परा को समझने में आसानी होती।

इस प्रकार पूरे अध्याय को पढ़ने से समझ ही नहीं आता कि इसके लेखक भारत का इतिहास पढ़ना प्रारम्भ कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक बच्चों को इतिहास नहीं पढ़ा रहे, उन्हें इतिहासकार बनाने का प्रयास कर रहे हैं। इस चक्कर में वे बच्चों को भ्रमित अधिक कर रहे हैं, बता कम रहे हैं।

सन्दर्भ :

1. द केस फॉर इण्डिया, पृ. 3
2. कक्षा छह, हमारे अतीत, पृ. 4
3. बर्निंग वुमेन, विडोज, पृ. 215
4. भारत में यूरोपीय यात्री, पृ. 18
5. विष्णुपुराण, 2.3.1
6. कक्षा छह, हमारे अतीत, पृ. 4
7. भारतीय धरोहर
8. कक्षा छह, हमारे अतीत, पृ. 6-7

❖❖❖

राजनीतिक षड्यंत्र है जातीय विद्वेष

सभ्यता अध्ययन केन्द्र प्रतिनिधि

विगत 23 दिसम्बर, 2018, शनिवार को झंडेवालान स्थित दीनदयाल शोध संस्थान में सभ्यता अध्ययन केन्द्र द्वारा एकदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। संगोष्ठी में जातीय सद्भाव के विषय पर चिन्तन करते हुए इसके भूत, वर्तमान और भविष्य यानी इतिहास, वर्तमान परिदृश्य और भविष्य पर विस्तृत चर्चा की गयी। इससे पहले केंद्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका 'सभ्यता-संवाद' के प्रवेशांक का विमोचन किया गया। संगोष्ठी में विषय-प्रवेश करते हुए केन्द्र के निदेशक रवि शंकर ने कहा कि आज समाज में सर्वत्र केवल जातीय वैमनस्यता की ही बात की जाती है। इसके लिए चाहे हम समानता या फिर समरसता का बहाना लेते हों, परंतु अंततोगत्वा हम यही चर्चा करते हैं, कि समाज में काफ़ी जातीय वैमनस्य रहा है और आज भी है, इसलिए हमें जातियों को समाप्त करना है। उन्होंने कहा कि दुर्भाग्यपूर्ण बात यह है कि वैमनस्यता का यह जहर अब छठी-सातवीं कक्षा के छोटे-छोटे बच्चों में भी एनसीईआरटी की पुस्तकों के माध्यम से डाला जा रहा है। इसलिए यहाँ चार प्रश्नों पर चर्चा की जाएगी– 1. जातियाँ देश के लिए वरदान हैं या अभिशाप? 2. क्या जातियों को मिटाया जाना संभव है? 3. भारत में जातीय सद्भाव रहा है या विद्वेष? क्या जातियों में सद्भाव स्थापित किया जा सकता है?

संगोष्ठी के मुख्य वक्ता तथा प्रसिद्ध लेखक तथा विचारक प्रो. रामेश्वर प्रसाद मिश्र 'पंकज' ने बताया कि 'जाति' शब्द किसी भी धर्मशास्त्र में नहीं है। हालाँकि यह कुलधर्म का हिस्सा है, जो एक स्वाभाविक इकाई है। जातियों की कलह की बात राजनीतिक झूठ है, इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण भी नहीं है। प्रो. मिश्र ने अनेक प्रमाण देते हुए बताया कि जातियाँ भारत के लिए कभी भी अभिशाप नहीं रहीं। उन्होंने जातीय विद्वेष की पृष्ठभूमि को समझाते हुए स्वाधीनताप्राप्ति और उसके बाद देश में बनी राजनीतिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया और कहा कि जातियों के बारे में आज जो वातावरण देश में बना है, उसके लिए ये राजनीतिक परिस्थितियाँ ही ज़िम्मेदार हैं। वर्तमान राजनीति 'बाँटो और राज करो' के अंग्रेज़ी सिद्धान्त पर अवलम्बित है और इसलिए जातियों में संघर्ष के झूठ को स्थापित किया जाता है।

प्रसार भारती के अवर महानिदेशक डॉ. शैलेंद्र कुमार ने कहा कि आज के समय में जातीय कट्टरता की बात करना बहुत ही बड़ी अज्ञानता है। स्वयं द्वारा किए गए एक शोध का प्रमाण देते हुए उन्होंने बताया कि अख़बारों में वैवाहिक विज्ञापन देनेवाले लोगों में से लगभग साठ प्रतिशत परिवारों के लोग अपनी लड़की के विवाह में जाति-बंधन नहीं रखते हैं। लड़कों के परिवारों में यह आँकड़ा और भी ऊपर है। उन्होंने यह भी कहा कि जातियों के कारण ही हमारा अस्तित्व सुरक्षित रहा है। जातीय संरचना के कारण ही देश का मतांतरण होने से बचा। अन्यथा जातीय व्यवस्था से विहीन पूरा मध्य-

पूर्व, अफ़ग़ानिस्तान आदि के क्षेत्रों में इस्लाम पूरी तरह फैल गया था। भारत में वह विफल हुआ तो इसका श्रेय जातीय व्यवस्था को ही है।

प्रो. मिश्र की बातों का समर्थन करते हुए विख्यात अर्थशास्त्री, समाजसेवी तथा भाजपा-प्रवक्ता श्री गोपालकृष्ण अग्रवाल ने कहा कि जातियों में संघर्ष की बात वही करते हैं, जिन्होंने भारतीय शास्त्रों तथा समाज का ठीक से अध्ययन नहीं किया होता है। जो लोग मनुस्मृति का विरोध करते हैं, उनमें से शायद ही किसी ने उसका अध्ययन किया होता है। श्री अग्रवाल ने कहा कि वे लम्बे समय से साधु-संतों की संगति में रहे हैं और उन्हें यही समझ आया है कि आज जो भी जातीय संघर्ष की घटनाएँ देखने के लिए मिलती हैं, वे स्वभाविक नहीं हैं, उनका प्रयासपूर्वक निर्माण किया गया है। गोपालकृष्ण अग्रवाल ने कहा कि जाति के साथ सुरक्षा और प्रगति के सवाल जुड़े हैं, इसलिए हम इसे नकार नहीं सकते हैं।

दिल्ली इंस्टीट्यूट ऑफ़ हेरिटेज रिसर्च एण्ड मैनेजमेंट के एसोशिएट प्रोफेसर तथा इतिहास के उद्भट् विद्वान् डॉ. आनन्द बर्धन ने अपने कई निजी अनुभवों को साझा करते हुए बताया कि जातियाँ सामाजिक आश्रय प्रदान करती हैं। यह हमारा उत्कर्ष करती हैं, इसीलिए आज समाज का कोई भी वर्ग अपनी जातिधर्मिता नहीं खोना चाहता है। उन्होंने कहा कि जातीय गौरव केवल कथित उच्च जातियों में ही नहीं रहा है, बल्कि यह तथाकथित निम्न वर्गों में भी उतने ही परिमाण में रहा है। मौजूदा समाज में तथाकथित ऊँची-नीची जातियों के पास अपने गौरव और ग्लानि– दोनों के प्रमाण हैं। इसीलिए जातियों को मिटाया जाना सम्भव नहीं है। डॉ. आनन्द बर्धन ने पौराणिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय इतिहास से ऐसे दर्जनों प्रमाण सामने रखे जिनमें जातीय सद्भाव और लचीलेपन का पता चलता है। अनेक यूरोपीय लेखकों को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि भारत में जातियों में संघर्ष कराने का प्रयास गोवा में ईसाई-पुर्तगाली शासन स्थापित होने का बाद प्रारंभ हुआ।

प्रसिद्ध लेखक तथा साहित्यकार राजीवरंजन प्रसाद ने शहरी नक्सलों तथा जातीय विद्वेष के गठजोड़ पर प्रकाश डालते हुए महिषासुर तथा माँ दुर्गा की कथा को लेकर फैलाए जानेवाले भ्रमों का उल्लेख किया। उन्होंने कहा कि किसी भी प्रकार समाज में संघर्ष पैदा करने के लिए ही कुछ लोग सक्रिय हैं।

कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए डॉ. नंदकिशोर गर्ग ने कहा कि यह ठीक बात है कि जातीय संघर्ष का कोई इतिहास नहीं मिलता, परंतु हमें आज की स्थितियों को भी ठीक करना होगा। उन्होंने डॉ. अम्बेडकर के योगदान को याद करते हुए कहा कि अम्बेडकर ने भी यही कहा था कि उन्हें हिंदू धर्म से कोई शिकायत नहीं है, परंतु उन्हें कम-से-कम उस तालाब या कुएँ से पानी पीने तो मिलना ही चाहिए जिनसे जानवर तक पानी पीते हैं।

इस संगोष्ठी में देशभर से कई विद्वान् आए थे। उदयपुर से आए इतिहास के विद्वान् और वरिष्ठ पत्रकार विवेक भटनागर ने मुस्लिम काल में अस्पृश्यता के प्रारम्भ होने की बात रखी तो गुवाहाटी से आए शिक्षक तथा योगगुरु मधुकर रायचौधुरी ने जातियों के आनुवांशिकी विज्ञान और भारतीय दर्शन के कर्मफल सिद्धान्त के आधार पर जातीय व्यवस्था को समझाया। कार्यक्रम में देशभर से बड़ी संख्या में विद्वानों ने सहभागिता की।

❖❖❖

जातीय सद्भाव : भूत, भविष्य और वर्तमान

(एकदिवसीय राष्ट्रीय संविमर्श)

दिनांक 23 दिसम्बर, 2018 ई. : दीनदयाल शोध संस्थान, नयी दिल्ली

सभ्यता-संवाद ▪ वर्ष 1 ▪ अंक 2 ▪ चैत्र-वैशाख-ज्येष्ठ, 5121 कलि. ▪ अप्रैल-मई-जून, 2019

सभ्यता अध्ययन केन्द्र

Centre for Civilisational Studies

बी 14, गली-नं. 13, वजीराबाद गाँव, दिल्ली-110084

दूरभाष : 9899588033, 9654669293

bhyatasamvad@gmail.com www.civilisationalstudies.org

facebook.com/civilisationalstudies